कल्याण

वर्ष ३८] * * * [अङ्क १२

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

संस्करण १,३८,०००

विषय-सूची

कल्याण, सौर पौष २०२१, दिसम्बर १९६४

विषय	पृष्ठ-संख्या
१–विरक्त भक्त श्रीशुकदेव [कविता] ···	१३३३
२–कल्याण ('शिव') ···	१३३४
३–एक महात्माका प्रसाद (श्री 'माधव') ···	१३३५
४–इच्छा-त्यागमें ही परम सुख है (स्व० मगनलाल हरिभाई व्यास) ···	१३३६
५–मानवजीवनका अनुपम लक्ष्य [कविता]	१३४०
६–मधुर ···	१३४१
७–हमारा 'ब्राह्मण'-साहित्य (पं० श्रीगंगाप्रसादजी पाण्डेय) ···	१३४२
८–श्रीसत्यनारायणव्रत-कथा और उसका महत्त्व (याज्ञिकभूषण पं० श्रीराधाचरणजी शर्मा एम्० ए०, साहित्यरत्न) ···	१३४५
९–जगत्के जीवन, धन, अधिकार प्रत्यक्ष क्षणभंगुर और दुःखद हैं [कविता] ··	१३४८
१०–दुर्भिक्षका कारण और निवारण (पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा) ···	१३४९
११–संस्कार और संस्कृति (श्रीअगरचंदजी नाहटा)	१३५५
१२–घृणाके मनोवैज्ञानिक दुष्परिणाम (पं० श्रीलालजीरामजी शुक्ल, एम्० ए०, बी० टी०) ···	१३५७
१३–मन जीता—जग जीता (श्रीहरिकृष्णदासजी गुप्त 'हरि') ···	१३५८
१४–सहानुभूति (श्रीअनन्तबिहारीजी 'मृदुल')	१३५९
१५–संगठन [कहानी] (श्री 'चक्र')	१३६१
१६–हार नहीं मानता (श्रीराधेश्यामजी)	१३६६
१७–जब बैंक टूटा (श्रीराजेन्द्रप्रसादजी जैन)	१३६८
१८–सोइ पावन सोइ सुभग सरीरा (पं० श्रीसुनहरीलालजी शर्मा) ···	१३७२
१९–स्वाध्याय (डॉक्टर श्रीनरेन्द्रकुमार सेठी, एम्० ए०, पी-एच्० डी०, साहित्यरत्न) ···	१३७५
२०–गोपीकी पुकार [कविता] (पाण्डेय पं० श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्री 'राम' साहित्याचार्य) ···	१३७५
२१–ऐश्वर्य और माधुर्य [कविता] (स्वामी श्रीजयरामदेवजी) ···	१३७६
२२–मानव-जीवनकी सफलता (श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)	१३७७
२३–विषयासक्ति और भगवत्प्रेममें भेद (स्वामीजी श्रीरामसुखदासजी महाराजके प्रवचनसे) ···	१३७९
२४–मुनेशके पुनर्जन्मकी घटनाका विवरण (प्रोफेसर श्रीहेमेन्द्र बनर्जी)	१३८०
२५–तुलसीके शब्द (डॉक्टर श्रीहरिहरनाथजी हुक्कू एम्० ए०, डी० लिट्०)	१३८२
२६–मुक्त-विचार (प्रवासी) ···	१३८४
२७–मुँह-दिखायी (श्रीब्रह्मेश भटनागर एम्० ए०) ···	१३८५
२८–आर्ष सिद्धान्तोंकी उदारता (पं० श्रीगौरीशंकरजी भट्टाचार्य)	१३८७
२९–राम-वन-गमन [कविता] (विद्यालंकार श्रीजगन्नाथजी मिश्र गौड़ 'कमल' वेदान्तरत्न) ···	१३९०
३०–पढ़ो, समझो और करो ···	१३९१
३१–साधनोंकी पवित्रता आवश्यक (श्रीगोविन्द शास्त्री, साहित्यरत्न)	१३९६

चित्र-सूची

१–वंशीका वैभव ···	(रेखाचित्र) ···	मुखपृष्ठ
२–विरक्त भक्त श्रीशुकदेव ···	(तिरंगा) ···	१३३३

वार्षिक मूल्य
भारतमें रु० ७.५०
विदेशमें रु० १०.००
(१५ शिलिंग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत चित आनँद भूमा जय जय॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन् जय जय॥
जय विराट जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते॥

साधारण प्रति
भारतमें ४५ पै०
विदेशमें ५६ पै०
(१० पेंस)

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी, एम० ए०, शास्त्री
मुद्रक-प्रकाशक—मोतीलाल जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

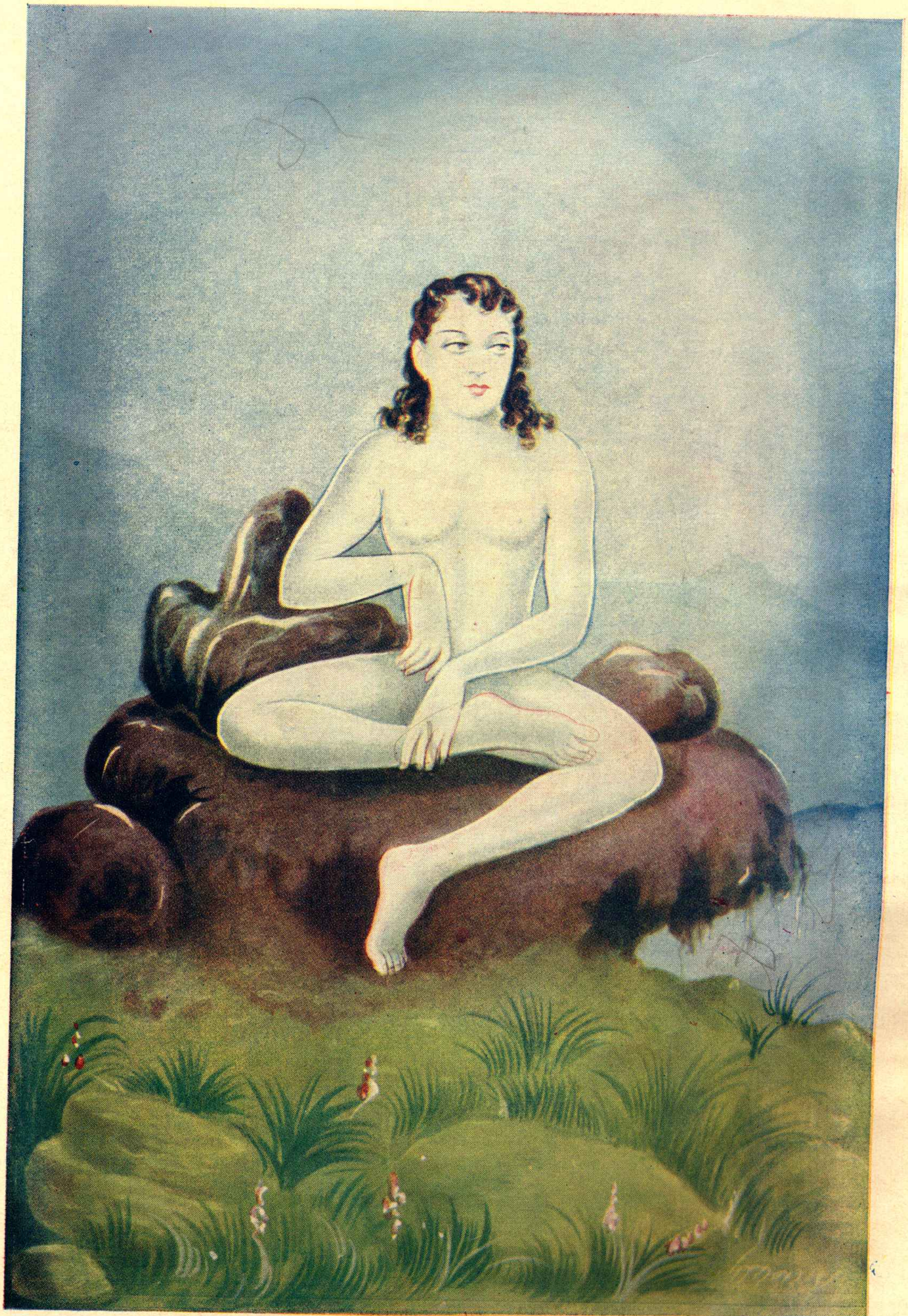

विरक्त भक्त श्रीशुकदेव

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

सर्वारिष्टहरं सुखैकरमणं शान्त्यास्पदं भक्तिदं स्मृत्या ब्रह्मपदप्रदं स्वरसदं प्रेमास्पदं शाश्वतम् ।
मेघश्यामशरीरमच्युतपदं पीताम्बरं सुन्दरं श्रीकृष्णं सततं व्रजामि शरणं कायेन वाचा धिया ॥

वर्ष ३८ | गोरखपुर, सौर पौष २०२१, दिसम्बर १९६४ | संख्या १२ पूर्ण संख्या ४५७

विरक्त भक्त श्रीशुकदेव

भेदरहित सम ब्रह्मद्रष्टा ब्रह्मरूप वर परम विरक्त ।
परम-तत्त्व-परिनिष्ठित-प्रज्ञा दृश्य-प्रपञ्च सहज परित्यक्त ॥
भगवत्-लीला-रसिक भक्तवर निर्मल भगवद्भावासक्त ।
मुनि शुकदेव भागवतवक्ता ज्ञानप्रेम मूर्त अभिव्यक्त ॥

कल्याण

याद रक्खो—तुम विकारी और विनाशी क्षणभङ्गुर पाञ्चभौतिक जड़ शरीर नहीं हो। तुम हो नित्य-शुद्ध-बुद्ध सत्-चित्-आनन्दस्वरूप। जन्म-मृत्यु आदि विकार शरीरमें हैं—तुम आत्मामें नहीं हैं। जगत्-प्रपञ्चरूप दृश्य असत् है और मायासे सत्-सा दीखनेपर भी उसकी अनित्यता—मरता तो प्रत्यक्ष है। तुम सत् और नित्य अमर हो। अपने स्वरूपको समझो और जगत्के सुख-दुःख, लाभ-हानि आदि द्वन्द्वोंसे अतीत सदा आनन्दमय बने रहो।

याद रक्खो—जैसे स्वप्नमें देखे प्राणि-पदार्थ, तथा अनुभूत सुख-दुःख वास्तवमें असत् है, वैसे ही जाग्रत्के ये समस्त प्राणि-पदार्थ एवं सुख-दुःख भी असत् हैं। ये सब अज्ञानके ही असत् परिणाम हैं। इनसे तुम आत्मस्वरूपका न कोई सम्बन्ध है और न इनके आने-जानेमें—उत्पत्ति-विनाशमें तुम्हारा कुछ बनता-बिगड़ता ही है।

याद रक्खो—भक्तोंकी अनुभूतिमें ये सब लीलामय भगवान्के लीला-समुद्रकी विविध मृदु—तीव्र लीलातरङ्गें हैं। स्वयं भगवान् ही लीलारूपमें अभिव्यक्त या लीलायमान हैं। अतएव इनमें सदा-सर्वदा भगवान्के मङ्गल-दर्शन करो और नित्यनिरन्तर लीलाके रूपमें प्रकट लीलामयके दर्शनकर परम सुखमय लीलानन्दका अनुभव करते रहो।

याद रक्खो—जन्म-मृत्यु, लाभ-हानि, सुख-दुःख, मान-अपमान, स्तुति-निन्दा, मित्र-शत्रु, दिन-रात, सर्दी-गरमी आदि सारे द्वन्द्व माया हैं या भगवान्की लीलाके ही विविध प्रकाश हैं। इनको या तो देखो ही मत, अथवा देख-देखकर इनकी आड़में छिपे हुए परमप्रेमास्पद लीलामय प्रभुके नित्य प्रफुल्लित, नित्य मधुर-मृदु-हास्य-समन्वित मुखकमलके दर्शनकर परमानन्द-सागरमें डूबते-उतराते रहो।

याद रक्खो—जब तुम इस प्रकार सभी प्राणि-पदार्थोंमें, प्राकृतिक परिवर्तनोंमें, भाव-विचारोंमें केवल प्रियतम भगवान्का अनुभव करोगे, तब तुम्हारे लिये जगत्का रूप ही बदल जायगा। जहाँ इस समय तुम द्वन्द्वात्मक अनित्य विनाशी प्राणी-पदार्थोंको देखकर ममता-आसक्तिके कारण सुखी-दुखी होते हो, वहाँ फिर तुम विविध खेलों तथा खेलनेवालोंके रूपमें अभिव्यक्त एक नित्य सत्य अविनाशी अपने आत्माके भी आत्मा नित्य सच्चिदानन्दमय भगवान्को देखोगे। तुम्हारा जीवन फिर विनाशी, भयविषादयुक्त, शोक-मोह-व्यथित नहीं रहेगा। वह बिल्कुल बदल जायगा—अविनाशी अभय आनन्दमय नित्य-सत्य, नित्य परम मधुर, नित्य नव सौन्दर्यसम्पन्न भगवान्के लीलाभिनयके एक आनन्द-स्वरूप अभिनेताके रूपमें।

याद रक्खो—इस संसारको कोई असत् न भी माने तो भी इस अनित्य परिवर्तनशील संसारमें कुछ भी नित्य और स्थिर तो है ही नहीं। इस अवस्थामें यहाँ कोई भी किसी नित्य स्थिर वस्तुकी या स्थितिकी आशा रक्खेगा, तो वह सदा निराश ही रहेगा। यहाँकी आशा परम दुःखदायिनी है। यहाँ कभी किसीकी कोई आशा कभी पूर्णरूपसे सफल हुई ही नहीं, न कभी हो ही सकती है। तुम एक आशा करोगे तो उस एकसे हजारों-हजारों आशाएँ फूट-फूटकर निकलेंगी और तुम उनके पाशमें इतने जकड़ जाओगे कि फिर उनसे छूटना ही अत्यन्त कठिन हो जायगा। अभी यही तो हो रहा है। हजारों-हजारों आशा-पाशोंसे आबद्ध मनुष्य उनकी पूर्तिके लिये विवेकभ्रष्ट होकर काम-क्रोधपरायण हो रहा है और प्रत्याशित वस्तु-स्थितिकी प्राप्तिके लिये अन्याय्य—असत् साधनोंको अपनाकर दुःखभारको उत्तरोत्तर बढ़ा

रहा है। अतएव मिथ्या अनित्य सुखोंकी आशाका सर्वथा त्याग करो। संसारकी असारता और दुःखमयता, अनित्यता और असत्यताका अनुभव करो। अपने नित्य-सत्य आनन्द-चेतनस्वरूपमें स्थित होओ या लीलामय भगवान्‌के लीलाभिनयके अभिनेता बनकर भगवदानन्दको प्राप्त करो।

'शिव'

एक महात्माका प्रसाद

गोपी-प्रेम

(संकलयिता—श्री'माधव')

गोपी-प्रेमकी बात वही कह सकता है जिसको गोपीभाव प्राप्त हो गया हो। सुननेका अधिकारी भी वही है। जबतक स्थूल, सूक्ष्म या कारण किसी भी शरीरमें अहंभाव है, तबतक मनुष्यको गोपीभाव नहीं प्राप्त होता; अतः वह गोपी-प्रेमका अधिकारी नहीं है।

उद्धव-जैसे ज्ञानी और योगी, जो भगवान् श्रीकृष्णके सखा थे, जब व्रजमें गये तब गोपियोंके प्रेमको देखकर ज्ञान और योगको भूल गये। उलटा अपने स्वामी और सखा श्रीकृष्णको हृदयहीन और कठोर बताने लगे एवं उन गोपियोंके प्रेमकी प्रशंसा करने लगे। यहाँतक कि व्रजके लता-पत्ता बननेमें अपना सौभाग्य मानकर गोपियोंकी चरणरजकी कामना करने लगे। ऐसी गोपियोंके प्रेमको भला कोई साधारण मनुष्य कैसे समझ सकता है ?

जबतक मनुष्यको शरीरका अभिमान रहता है, तबतक उसको किसी-न-किसी प्रकारके संयोगजनित सुखका लालच रहता है। गोपीभावकी प्राप्तिमें वस्तुके संयोग और क्रियाजन्य सुखकी तो कौन कहे, चिन्तनतकके सुखका भी त्याग हो जाता है। अतः गोपीभाव प्राप्त करनेके लिये स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरका तथा उनसे सम्बन्ध रखनेवाले समस्त भोगोंका सङ्ग विवेकके द्वारा छोड़ना पड़ता है। इसका त्याग सत्सङ्गसे ही हो सकता है। विवेकका आदर ही सत्सङ्ग है। सब प्रकारकी चाहका अन्त होनेपर ही सत्‌का सङ्ग अर्थात् भगवत्प्रेम-की लालसा उत्पन्न होती है।

जब भगवान् श्यामसुन्दरके प्रेमकी लालसा समस्त भोगवासनाओंको खाकर सबल हो जाती है, तब साधकका व्रजमें प्रवेश होता है। उसके पहले तो व्रजमें प्रवेश ही नहीं होता। यह उस व्रजकी बात नहीं है, जहाँ लोग टिकट लेकर जाते हैं। यह तो उस व्रजकी बात है जो प्रकृतिका कार्य नहीं है; जहाँकी कोई भी वस्तु भौतिक नहीं है, जिसका निर्माण दिव्य प्रेमकी धातुसे ही हुआ है। जहाँकी भूमि, ग्वाल-बाल, गोपियाँ, गायें और लता-पत्ता आदि सब चिन्मय प्रेमरूप हैं। जहाँ जडता और भौतिक भावकी गन्ध भी नहीं है। उस व्रजमें प्रवेश हो जानेके बाद भी गोपीभावकी प्राप्ति बहुत दूरकी बात है। दासभाव, सख्यभाव और वात्सल्यभावके बाद कहीं मधुर गोपी-भावकी उपलब्धि होती है। फिर साधारण मनुष्य उस गोपीप्रेमकी बात कैसे समझ सकते हैं और कैसे कह सकते हैं ?

अतः जिस साधकको गोपीप्रेम प्राप्त करना हो, उसे चाहिये कि 'पहले मुक्तिके आनन्दतकका लालच छोड़कर व्रजमें प्रवेशका अधिकार प्राप्त करे और उसके बाद भगवान्‌की कृपापर निर्भर होकर गोपीभावको प्राप्त करे।'

इच्छा-त्यागमें ही परम सुख है

(लेखक—स्व० मगनलाल हरिभाई व्यास)

शरीर, चित्त और चेतन—इन तीनोंमें शरीर और उसकी इन्द्रियोंसे कर्म होते हैं। परंतु वह स्वभावसे जड है, अतएव चित्त उसको प्रेरित करता है। इससे कर्तृत्व चित्तमें है। चेतन असंग होनेके कारण न कुछ करता है और न कुछ कराता है। तथापि शरीर और चित्त दोनोंको सत्ता और शक्ति उस चेतनसे ही प्राप्त होती है।

सुख-दुःखका अनुभव करनेवाला चित्त है। जन्म-मरणका अनुभव करनेवाला भी चित्त है। नाना प्रकारके शरीरोंमें भटकनेवाला भी चित्त है। अनेक इच्छाएँ करनेवाला और विकारी चित्त ही है।

चित्त जो अनुभव करता है, उसका उसको सुख-दुःख होता है। निद्रालु मनुष्यका शरीर चाहे राजाकी शय्यापर क्यों न हो, यदि उसका चित्त स्वप्नमें भिखारी-की शय्याका अनुभव करता है तो उसको उसीका सुख मिलेगा, राजाकी शय्याका सुख उसे नहीं मिलेगा। जागते हुए कोई भी आदमी किसी काममें लीन हो, दूसरा उसका मजाक करता हो और तीसरा उससे पूछे कि क्या तुम्हें पता नहीं, इसने तुम्हारा मजाक किया है ? तो वह उत्तर देगा, 'नहीं भाई, मेरा चित्त दूसरे काममें फँसा था।' जागते या सोते चित्तकी वृत्ति जिसके साथ तद्रूप होती है, उसीका अनुभव चित्त करता है, दूसरेका नहीं।

बालकका चित्त खेलमें लीन रहता है। वह भूखा हो तो भी भूखके दुःखका अनुभव नहीं करता, बल्कि खेलके आनन्दका ही अनुभव करता है। चित्तका अनुभव करना, न करना उसके अभ्यासके ऊपर निर्भर करता है, चित्तके अनुभवकी दो दिशा है—एक है जगत्का भोग और दूसरा है आत्मानन्द। जैसे एक राजाकी दो पत्नियाँ हैं और वह चाहे जिसके साथ सुख मान सकता है। उसी प्रकार चित्त चाहे तो संसार-सुखका अनुभव करे और चाहे तो आत्मसुखका अनुभव करे। क्या अनुभव किया जाय, इसका निर्णयकर्ता वह स्वयं है।

चित्तको संसार-सुखका अनुभव करना हो तो इसके लिये शरीर (इन्द्रियोंके साथ) और भोगपदार्थ आदिको उत्पन्न करना पड़ता है। चित्त जितना स्वयं उत्पन्न करेगा, उतना ही भोग सकेगा। जैसे पतिव्रता स्त्रीको परपुरुष भोगके काम नहीं आता, उसी प्रकार चित्तको दूसरोंसे उत्पन्न अशेष भोग काम नहीं आते। मनुष्य यदि वह सोचता है कि उसको कोई साधु कुछ दे देगा, कोई देवी-देवता दे देंगे, तो यह उसकी बड़ी भूल है। अपनी साधनाके बिना कुछ भी नहीं मिलता, फिर वह साधना चाहे इस जन्मकी हो या पूर्वजन्मकी। देवता और साधु प्रसन्न होकर जो कुछ देते हैं, वह भी अपनी साधनाका ही फल होता है; क्योंकि हम उनको प्रसन्न करनेके लिये भी कुछ पुरुषार्थ करते हैं। इसलिये भाई ! साधन-श्रम किये बिना कुछ भी प्राप्त करनेकी आशा छोड़ देनी चाहिये।

कितना अधिक परिश्रम करके चित्त जगत्में भोगका शरीर तथा भोग प्राप्त करता है, जो शरीर विनाशी और विकारी है तथा भोग भी वैसे ही हैं। इसलिये श्रम करनेपर जो मिलता है उससे हर्ष होता है और उसमें विकार तथा विनाश होनेसे शोक होता है। अतएव चित्त भोग और शरीरको पाकर हर्ष और शोकसे कभी मुक्त नहीं हो सकता। हर्ष और शोककी परम्परा चालू ही रहती है। जन्म-मरण चलता ही रहता है।

चींटीसे लेकर ऊँचे लोकोंतक सारे ब्रह्माण्डमें पाँच ही भोग हैं—शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध। इनमें

मुख्यतः रस और स्पर्श-सुखके पीछे कितने ही देवता, राक्षस और राजा बर्बाद हो चुके हैं।

इसी कारण पूरे परिवारके साथ रावण लङ्काको जलाकर स्वयं भस्मीभूत हो गया। इन्द्र बर्बाद हो गये। महाभारतकी अठारह अक्षौहिणी सेना स्वाहा हो गयी। यदि यह कहें तो अत्युक्ति न होगी कि अनेकों युद्ध केवल स्त्रीके कारण हुए हैं। देवता, दानव, मानव ही नहीं, बड़े-बड़े ऋषि-मुनि, योगी-तपस्वी, सभी इस जगत्के पाँच भोगोंमेंसे—मुख्यरूपसे जीभ और उपस्थके पीछे अनेक जन्मोंके श्रमको बलि दे चुके हैं, तथापि उससे तृप्ति नहीं मिली। सभी भोगमें सुख मानकर श्रम करते हुए मर गये और उन्हें अन्तमें निराश होना पड़ा।

जीभका भोग-पदार्थ चाहे जो हो, जीभके नीचे उतरते ही वह विष्ठा हो जाता है। स्त्री-सुख चाहे जितना हो, स्त्रीका शरीर चाहे कितना ही सुन्दर हो, एक-एक अङ्गपर चाहे जितनी उपमा दी जाय, परंतु सारा शरीर वस्तुतः बना होता है केवल हाड़, मांस, रुधिर और चामका ही। वह विकारी और विनाशी होता है। भोग भोगनेके बाद सभीको ग्लानि और तेजहीनता ही हाथ लगती है। हम सब अपनेको बुद्धिमान् मानते हैं; पर हैं मूर्खशिरोमणि। अनेक श्रमसे—अनेक पुण्य, जप-तप, दान और योगको खोकर स्त्रीकी प्राप्ति करते हैं, तो वह क्षणभरके स्पर्श-सुखके लिये! इतना होनेपर भी चित्त उससे विराम नहीं लेता—यही माया है, यही अज्ञानता है। इसीके निवारणके लिये शास्त्रों और संतोंके उपदेशकी आवश्यकता है। हमारी कितनी बड़ी मूर्खता है कि हम जिस भोगशरीरका फल सर्वथा क्षणिक, विकारी और विनाशी है, उसीकी प्राप्तिके लिये तो अनेक जन्मोंतक पुरुषार्थ करते हैं और जिस सनातन आत्मामें वृत्ति लगानेसे अखण्ड अनुपम अविनाशी आनन्द मिलना है और जो सहज प्राप्त है उसकी चाह भी नहीं करते!

चित्तकी वृत्ति आलम्बनके बिना नहीं रहती। या तो वह भोगकी ओर जायगी या आत्माकी ओर। जिस प्रकार जीव शरीरके बिना जी नहीं सकता, उसी प्रकार चित्त विषयानन्द या आत्मानन्दके बिना नहीं रह सकता। विषयानन्द भूलनेपर आत्मानन्दका अनुभव होता है और आत्मानन्दके भूलनेपर विषयानन्दका। चित्त बाहर अनुभव नहीं करता, वह अपने भीतर अनुभव करता है। बाहरसे पूँजीपति कहलानेवाला जो व्यापारी अंदरसे दिवालिया है, वह जैसे धनका अनुभव न करके दिवालियापनका अनुभव करता है, उसी प्रकार चित्तके भीतर जो कुछ होता है, उसीका वह अनुभव करता है।

सुख या दुःखका अनुभव चित्तसे ही होता है। जिस प्रकार लड्डू चाहे कितना ही अच्छा हो, जब वह जीभपर आता है, तभी उसका अनुभव होता है; और यदि जीभ रोगग्रस्त हो तो लड्डूका यथार्थ स्वाद उसे नहीं मिलता। इसी प्रकार चित्तमें जो चिन्ता, भय, क्लेश, क्रोध, इच्छा आदि भरे होते हैं, उन्हींका अनुभव वह करता है; दूसरी वस्तुओंका अनुभव नहीं करता। पुत्रका ब्याह कराने गये हुए पिताको यदि उसका समधी कठोर वचन कह दे और उससे वह खिन्न हो जाय तो उसका चित्त उस अवसरके बाजे, गीत, स्वादिष्ट भोजन, वार्तालाप आदि किसी वस्तुमें सुखका अनुभव नहीं करता, उसके चित्तको तो समधीके वाग्बाण ही व्याकुल किये रहते हैं।

मनुष्य धन-धाम, स्त्री-पुत्र और पद-वैभवकी प्राप्तिके पीछे पागल है। पर इन सबके प्राप्त होनेपर भी जिसके चित्तमें चिन्ता, भय और क्रोध हो, उसको ये सब कभी सुख नहीं दे सकते; वह तो चिन्ता, भय और क्रोधमें ही डूबा रहता है। अपना घर चित्त है। अनेकों प्रकारके विकार, भय, क्रोध, ईर्ष्या, रोग आदि—सबका मूल इच्छा है। प्रत्येक इच्छासे ही प्रत्येक दुर्गुण

और प्रत्येक दुःखका उत्पादन होता है । इच्छाका अर्थ है—प्राणी-पदार्थसे सुख प्राप्त करनेकी चाह । चित्तमें चाह उत्पन्न होते ही सारे सुखोंका नाश हो जाता है । सारे चिन्ता-दुःखोंका मूल यह चाह ही है ।

'चाह गई चिंता गई मनवा बेपरवाह ।'

चित्तमें जब कुछ भी नहीं रहता, तभी पूर्णताकी प्राप्ति होती है । जैसे, जिस जगह कुछ नहीं होता, वहाँ आकाश रहता है; वैसे ही, चित्तमें जब कुछ नहीं रहता, तब वहाँ आत्मा या परमात्माका निवास होता है । आत्माका ही अर्थ है—शान्ति, आनन्द और पूर्णता ।

जब किसी प्रकारकी भी इच्छा नहीं होती, तब आत्मानन्दका अनुभव होता है । इच्छाके होते ही इच्छित वस्तुकी अप्राप्तिका दुःख अनुभव होने लगता है । इच्छासे ही दुःखकी शुरुआत होती है ।

जहाँ कोई वस्तु होती है, उस देशविशेषमें वायु और आकाश नहीं होता, उसी प्रकार जहाँ इच्छा होती है वहाँ आनन्द नहीं होता । इच्छा होनेपर इच्छित वस्तुकी अप्राप्तिका दुःख अनुभव होने लगता है और यह एक ऐसा रोग है कि इसके सामने हजारों प्राप्त वस्तुओंका सुख हवा हो जाता है । केवल अप्राप्त वस्तुका दुःख ही अनुभवमें आता है । अप्राप्त वस्तुकी इच्छा खड़ी होते ही वह सारे चित्तमें व्याप्त हो जाती है, इसी कारण अन्यान्य प्राप्त वस्तुओंमें सुखका अनुभव नहीं हो पाता ।

सीताको प्राप्त करनेके दुराग्रहके कारण रावणको मन्दोदरी-जैसी अनेकों सुन्दरियोंका सुख, पुत्र-सुख, राज्य-सुख, ऐश्वर्य-सुख—सुख देनेवाले नहीं रहे । मानो वे सारे सुख कुछ थे ही नहीं, उसको केवल सीताकी अप्राप्तिके दुःखने ही घेर रक्खा था ।

भोजन करते समय अनेकों प्रकारके व्यञ्जन सामने हों, पर यदि दाल खानेकी इच्छावालेकी दालमें नमक अधिक पड़ गया तो उसका चित्त दुःखमें मग्न हो जाता है, फिर उसे दूसरे व्यञ्जनोंका सुख अनुभव नहीं होता । इच्छा ही दुःख है । यही क्लेशका मूल है । प्राप्त वस्तुका सदुपयोग करो, अप्राप्त वस्तुकी इच्छा ही मत पैदा होने दो । सुखी रहोगे । इच्छाको पैदा करना ही सारे सुखोंका नाश करना है ।

इच्छा चेतनके लिये होती है या शरीरके लिये अथवा चित्तके लिये होती है । सो चेतन तो परिपूर्ण है, उसके लिये कोई इच्छा होती ही नहीं । शरीर केवल जीनेकी इच्छा करता है, उसको पोषणकी और रक्षणकी जरूरत है । शेष तरङ्गें उठाकर चित्त ही अपनेको दुःख प्रदान करता है ।

चित्तकी विशेषता ही यही है कि अप्राप्तके पीछे पागल होकर वह स्वयं परेशान होता है और दूसरोंको भी परेशान करता है । 'मैं मरूँगा और तुझे राँड़ बनाऊँगा'—इस कहावतके अनुसार वह अनेक जन्म धारण करता है और शरीर तथा आत्माको घसीटता है ।

सुखका सागर आत्मानन्द तो प्राप्त ही है, पर उसके नित्य प्राप्त रहनेपर भी चित्त विषयानन्दके लिये किस प्रकार भटकता है, यह स्पष्ट हो गया ।

निगृहीत चित्त आत्मारूपी कल्पवृक्षके समीप जाता है और उस निगृहीत अवस्थामें वह जो चाहता है उसे प्राप्त होता है । निगृहीत चित्त ही सबका मूल है ।

इच्छामात्रका त्याग करनेसे चित्त स्वयं मर जाता है । इसीका नाम मोक्ष है । इच्छामात्रके अभावका नाम मोक्ष है । चित्तका इच्छा करना बंद हो जाय तो जन्म-मृत्युका चक्कर चालू नहीं रह सकता । अपनी इच्छासे ही यह शरीर प्राप्त हुआ है और अपने इच्छानुसार ही हम दूसरा शरीर धारण करते हैं ।

बन्ध या मोक्ष अपने हाथमें है । भोगेच्छा ही बन्धन है । भोगेच्छाका त्याग ही मोक्ष है । शरीरसे कर्म तो होंगे । अतः शरीरसे शुभ कर्म करे, यज्ञ-दान और तप आदि स्वधर्म-कर्म करता जाय; परंतु उसके फलस्वरूप भोगकी इच्छा न करे तो मोक्ष ही है । भोगकी इच्छा करनेपर तो जीवका जन्म-जन्मान्तरका भ्रमण चालू ही रहेगा; क्योंकि इच्छावाला कर्म जन्म-मृत्युरूप फल देनेवाला ही होता है ।

जैसे मेहनतानेके बिना स्वेच्छासे सेवा करनेवाला मनुष्य आनन्दसे सेवा करता है । उसको शुरूमें, मध्य-में और अन्तमें कभी निराशा नहीं होती, सदा आनन्द ही रहता है; क्योंकि वह मेहनतके फलस्वरूप कोई इच्छा नहीं करता । इसी प्रकार हम कर्म करते हुए उसके फलकी इच्छा न करें तो सदा आनन्द है । आनन्दको नष्ट करनेवाली तो इच्छा है, आनन्दको खा जानेवाली आशा है । आशा परम दुःखरूपा है—'आशा हि परमं दुःखम्' आशा अथवा इच्छा ही पराधीनता है । पराधीनतामें सुख या आनन्द नहीं होता । जिसको इच्छा है ही नहीं, जो नित्य निराशी है, वह सदा परम आनन्दमें मग्न रहता है—'नैराश्यं परमं सुखम् ।' वही मुक्त है, वह बेपरवाह और मस्त रहता है, जो आशा, इच्छा या चाहसे रहित है । वह शाहनशाहोंका भी शाहनशाह है ।—'जिसको कछू न चाहिये सो जग शाहनशाह ।' इच्छा अथवा आशा उसको दीन बनाते हैं, पराधीन करते हैं । आनन्दमात्र-को स्वाहा कर देते हैं । इतना समझनेपर भी यदि हम भोगेच्छा नहीं छोड़ सकते, यही हमारा अज्ञान है, यही तो महामोह है ।

जैसे फिटकरी मिश्री-जैसी दीखती है, परंतु खानेपर स्वादिष्ट नहीं लगती, जैसे बालू चीनी-जैसी दीखती है, परंतु खानेपर मीठी नहीं लगती । जैसे लकड़ीके बुरादे-का लड्डू देखनेमें लड्डू-जैसा लगता है पर वह खाया नहीं जाता । उसी प्रकार भोग-पदार्थ देखनेमें सुखद जान पड़ते हैं, पर वे सुख नहीं देते; बल्कि श्रमके कारण दुःखद ही होते हैं । लकड़ीका बना आम ऊपरसे रसीला दीखनेपर भी नीरस होता है, इसी प्रकार भोग सुखरूप दीखनेपर भी वस्तुतः दुःखरूप ही है । सारांश यह कि चित्तको अनेक जन्मोंमें अनेक बार भोगोंमें सुखके बदले दुःख अनुभव हो चुका है, तथापि भोगमेंसे उसकी सुख-बुद्धि दूर नहीं होती । वर्तमान कालमें जिस भोगके लिये चित्त आकुल रहता है, भोगकालमें वह उस भोगसे सुखी नहीं होता । यह जानते हुए भी चित्तको यह इच्छा होती है कि अमुक भोगसे सुख मिलेगा । इसीका नाम 'माया' है, अपने प्राप्त भोगसे हम सुखी नहीं हुए, यह अनुभव करनेपर भी इसको छोड़ नहीं सकते । यही अज्ञान है, यही माया है ।

जैसे जागते जीवको स्वप्नका स्त्री-भोग तृप्त नहीं कर सकता, उसी प्रकार चेतन आत्माको इस जगत्‌का कोई भी भोग तृप्त नहीं कर सकता । हम शरीर नहीं हैं, हम चित्त नहीं हैं, हम तो निर्विकार चेतन हैं । अतएव चित्तके द्वारा कल्पित कोई भी भोग-पदार्थ हमारे इच्छा करनेयोग्य नहीं है, इसलिये कोई भी क्रिया जो शरीर या चित्तसे होती है, उसके फलके भोगकी इच्छा करना जन्म-मृत्युके प्रवाहमें, दुःखके सागरमें गिरना है । स्व-स्वरूपका बोध हुए बिना, भोगसे कभी सुख-बुद्धि नहीं मिटती । और जगत्‌के प्राणी-पदार्थमें सुख-बुद्धिके दूर हुए बिना जन्म-मरण मिटनेवाला नहीं है ।

सारे भोग क्रियासाध्य हैं । भोग अर्थात् एक क्रिया-के नाशसे दूसरीकी उत्पत्ति, इस प्रकार क्रिया करते-करते जीवनका नाश हो जाता है ।

भोगसे शरीरका नाश होता है, पर चित्तका नाश नहीं होता। चित्तका शरीर इच्छा है। इच्छासे ही वह टिका है। इच्छाके मरनेपर मर जाता है।

भोगसे यद्यपि चित्तकी भोग उत्पन्न करनेवाली शक्ति घटती है, तथापि इच्छा मौजूद रहती है। इससे उसमें दीनता और दुःख आता है। भोगमात्रकी, सब इच्छाओं और सब सुखोंकी इच्छा-आशा छोड़े बिना किसी कालमें जन्म-मरण मिटनेवाला नहीं है।

सत्सङ्ग, विचार, स्वरूप-ज्ञान और वैराग्यसे चित्त शान्त होता है, तब मोक्षकी प्राप्ति होती है। चित्तमें इच्छाकी उत्पत्तिका नाम ही दुःखकी उत्पत्ति है। चित्तमें इच्छामात्रके अभावका नाम है—परमानन्दकी प्राप्ति। कोई भी दुःख हो तो जान लो कि चित्त-मन्दिरमें इच्छादेवीका आगमन हो गया है। उसीके परिवार क्रोध, भय और लोभ आदि हैं। चित्तमें भोगकी इच्छा रखते हुए मोक्षकी इच्छा ही नहीं होती।

समुद्र-जैसे नदीके जलको अपने भीतर ले लेता है, उसी प्रकार प्राप्त भोग भोग ले, उसमें जरा भी हर्ष या आसक्ति न रक्खे और न अप्राप्त भोगके लिये तनिक-सी कामना ही करे।

विहाय कामान् यः सर्वान् पुमाँश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति॥

'जो समस्त कामनाओंको छोड़कर चाहमात्रका त्याग करके तथा ममता और अहंकाररहित होकर विचरता है, वह शान्तिको प्राप्त होता है।'

सारी कामनाओंका त्याग करो और ईश्वरका भजन करो, परमात्मा तुम्हारा भला करेगा।

मानवजीवनका अनुपम लक्ष्य

जबतक यह आस्था है मनमें, देंगे 'मनवाञ्छित सुख' भोग।
तबतक भोगकामनाका नित प्रबल रहेगा चालू रोग॥
भोगकामना देगी नित्य निरन्तर दुःख, बनेंगे पाप।
पापोंका फल होगा भीषण कष्ट, नरक, अतिशय संताप॥
सदा अपूर्ण भोग हैं निश्चित क्षणभंगुर, दुःखोंके खेत।
इनमें जो सुख मान, चाहता इन्हें, मूर्ख वह मनुज अचेत॥
मानव-जीवनका है शुचितम पावन परम एक ही काम।
भवबन्धनसे मुक्ति-प्राप्ति-हित, करना नित्य भजन निष्काम॥
इससे भी ऊँचा है अनुपम लक्ष्य 'प्रेम' पञ्चम पुरुषार्थ।
बड़े-बड़े ज्ञानी मुनि करते कठिन तपस्या जिसके अर्थ॥

मधुर

श्रीराधारानीने जबसे 'कृष्ण' नाम सुना, तभीसे वे प्रेमविह्वल हो रही हैं। उनकी विचित्र स्थिति नित्य बनी रहती है। उनकी ऐसी स्थिति देखकर एक दिन एक अन्तरङ्ग सखी उनको समझाने लगी। राधारानीने कुछ धैर्य धारण करके कहा—

प्रियतम कौ अति मधुर मनोहर
'कृष्ण' नाम जब सुन्यो ललाम।
भर्‌यो अमिय रस तबहिं हृदय में,
भरत रहत तब तें सुखधाम॥

'सखी! जिस क्षण मैंने प्रियतमका अत्यन्त मधुर मनहारी परम सुन्दर 'कृष्ण' नाम सुना, उसी क्षण मेरा हृदय एक विलक्षण अमृत-रससे भर गया। पर भरनेपर भी वह खाली ही जान पड़ता है और उसी समयसे वह सुखका धाम अमृतरस लगातार भरता ही चला जा रहा है।'

अग-जगके बिसरी मैं तब तें
सगरे मीठे खारे नाम।
कृष्ण नाम धुनि मंजु गूँज रहि
सब दिसि सकल काल अभिराम॥

'सखी! तभीसे मैं जगत्‌के सारे मधुर तथा कटु नामोंको भूल गयी। सब दिशाओंमें और सभी समय एकमात्र 'कृष्ण' नामकी ही मंजुल ध्वनि सदा गूँजती रहती है।'

सज्जन-सेवित वेद-लोककी
मिटी सकल मरजादा-लाज।
पिघल्यौ हियौ, बही दृग धारा
अधर नाम सुचि रह्यौ विराज॥

'वेदकी जिस मर्यादा तथा लोककी जिस लज्जाका सज्जनगण सदा सेवन—संरक्षण करते हैं, वही वेदकी मर्यादा और लोककी लाज मेरे जीवनसे मिट गयी। मेरा हृदय द्रवित हो गया, आँखोंसे धारा बहने लगी और मेरे अधर-ओष्ठपर पवित्र 'कृष्ण' नाम सदाके लिये विराजित हो गया।'

रही न सुधि कछु कहन-करन की
समुझि न परत कहा यह रोग।
'कृष्ण' नाम-रस उपजावत हिय
नित नूतन बियोग-संयोग॥

'तभीसे सखी! न तो मुझे कुछ कहनेकी बात याद रही और न कुछ करनेकी ही। न मैं यही समझ पाती हूँ कि मेरे यह क्या रोग लग गया है। बस 'कृष्ण' नामका रस मेरे हृदयमें नित्य नयी-नयी प्रियतमके वियोग और संयोगकी—बिछुड़ने और मिलनेकी अनुभूति कराता रहता है।'

कबहुँ हँसावत, कबहुँ रुलावत
कबहुँ करावत करुन पुकार।
चेत अचेत करावत पुनि पुनि
कबहुँ मौन कबहूँ चीत्कार॥

'वह 'कृष्ण' नाम मुझे कभी हँसाता है, कभी रुलाता है, कभी मुझसे करुण पुकार करवाता है, कभी मुझे होशमें ला देता है और कभी बिल्कुल बेहोश कर देता है। कभी सर्वथा मौन करा देता है और कभी चीत्कार कराने लगता है। बस, पुनः-पुनः ऐसी स्थिति होती रहती है।'

कहा करूँ, जाऊँ कहँ मैं अब
पाऊँ जहँ प्रानिन के प्रान।
मिलूँ हृदय भर तिन्ह तें मैं सखि!
पाऊँ तुरत दुःख ते त्रान॥

'सखी! अब मैं क्या करूँ? कहाँ जाऊँ जहाँ मुझे अपने प्राणोंके प्राण प्रियतमकी प्राप्ति हो और मैं उनसे हृदयभरके मिलूँ, जिससे तुरंत ही मैं सारे दुःखोंसे त्राण पा जाऊँ।'

सखि समुझावन लगी सुनौ हे
राधा ! धरौ हृदय में धीर।
स्वयं कृष्ण मिलि सपदि हरेंगे
सगरी तुम्हरे हिय की पीर॥

'यह सुनकर सखी समझाने लगी—'राधा ! सुनो, हृदयमें धैर्य धारण करो, स्वयं श्रीकृष्ण शीघ्र ही तुमसे मिलेंगे और तुम्हारे हृदयकी सारी पीड़ाको हर लेंगे।'

इतने ही में सहसा प्रगटे, वे
राधाप्रिय हरि प्रेमाधार।
बिह्वल परी चरन राधा ली
तुरत उठाय, भरी अँकवार॥

'इसी बीच सहसा राधाके प्रियतम तथा प्रेमके आधार हरि प्रकट हो गये, उन्हें देखते ही विह्वल होकर राधा चरणोंमें गिर पड़ी और तुरंत ही श्रीकृष्णने उनको उठाकर अपने हृदयसे लगा लिया !'

हमारा 'ब्राह्मण'-साहित्य

(लेखक—पं० श्रीगंगाप्रसादजी पाण्डेय)

महर्षि आपस्तम्बके अनुसार मन्त्र और ब्राह्मण दोनों-का नाम वेद है—'**मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्।**' गुह्य या रहस्यमय कथनकी संज्ञा 'मन्त्र' है और सामान्यतः यह किसी देवताकी स्तुतिमें प्रयुक्त होनेवाले अर्थका स्मरण करानेवाला कोई पद्यमय वाक्य होता है। इन्हीं पद्यमय वाक्यों (मन्त्रों-)के संग्रहको संहिता कहते हैं। इसके अतिरिक्त वेदके 'ब्राह्मण' रूपमें यज्ञ और कर्मकाण्डोंका प्रतिपादन किया गया है, जिनमें मन्त्रोंकी अर्थमीमांसा और यज्ञानुष्ठानोंका विस्तृत विवरण उपलब्ध होता है। इन्हीं ब्राह्मणोंका ही एक भाग आरण्यक और एक उपनिषद् कहलाता है। एक ओर जहाँ आरण्यकोंमें वानप्रस्थियोंके यज्ञ, होत्र और महाव्रतोंका विवेचन मिलता है, वहीं दूसरी ओर उपनिषदोंमें अध्यात्मज्ञान या ब्रह्मविद्याका वैज्ञानिक प्रतिपादन। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि संहिताओंका स्थूल कर्मकाण्ड आरण्यकोंके मानसिक कर्मकाण्डके पथसे होता हुआ क्रमशः उपनिषदोंके आत्मिक ज्ञानकी संज्ञामें बदल उठा है।

विष्णुधर्मोत्तरके अनुसार मन्त्रोंके अर्थज्ञानके लिये ही ब्राह्मणोंका प्रवचन किया गया है—

'**मन्त्राः सब्राह्मणाः प्रोक्तास्तदर्थं ब्राह्मणं स्मृतम्।**'

इन ब्राह्मणोंमें मन्त्रोंका विनियोग बताया गया है; इसीलिये आचार्योंने ब्राह्मणकी व्युत्पत्ति करते हुए कहा है—

'**ब्राह्मणां वेदानामिमानि व्याख्यानानि ब्राह्मणानि**'

अर्थात् वेदार्थोंके व्याख्यान करनेवालेको 'ब्राह्मण' कहते हैं। वैदिक साहित्यमें यह तो स्पष्ट ही है कि स्वर्गादि स्पृहणीय लोकोंकी प्राप्तिके लिये धर्म ही एक-मात्र साधन है और उसका सम्यक् बोध वेदोंसे ही होता है। यागादि उनकी प्राप्तिके धार्मिक साधन हैं। इसीलिये इनका ब्राह्मण-ग्रन्थोंमें सविस्तर वर्णन किया गया है और ऐतरेय ब्राह्मणमें इस आशयको व्यक्त करते हुए ऋषिने कहा भी है—

'**स्वर्गमेव तं लोकं रोहति य एवं वेद।**'

भट्टभास्करने इन ब्राह्मणोंको दो प्रकारका कहा है—एक कर्म-ब्राह्मण और दूसरा कल्प-ब्राह्मण। पहलेमें कर्मोंका विधान, मन्त्रोंके प्रयोग और उनके उपयोगमें लाये जानेवाले स्थानोंका निरूपण किया गया है और दूसरे कल्प-ब्राह्मणोंमें मन्त्रोंका पाठ मात्र भर ही दिया है। हमारा सर्वाङ्ग वैदिक साहित्य अबतक नहीं प्राप्त हो पाया है। अबतक चारों वेदोंके अन्तर्गत प्राप्य

ब्राह्मणोंकी संख्या लगभग सोलह है । ऐतरेय और कौषीतिकी नामक दो ऋग्वेदीय ब्राह्मण-ग्रन्थ प्राप्त होते हैं । चालीस अध्यायवाले प्रथम ऐतरेय-ब्राह्मणमें पाँच-पाँच अध्यायोंकी आठ पंक्तिकाएँ हैं । इसका प्रवक्ता महीदास ऐतरेय है । पाश्चात्त्य प्राच्य-विद्या-विशारद कीथ महोदयके अनुसार यह अन्य ब्राह्मण-ग्रन्थोंकी अपेक्षा सबसे पुराना है और उसका सर्वाधिक प्रचार आज भी ऋग्वेदीय आश्वलायन शाखाध्यायी ब्राह्मणसमाजमें मिलता है । इस शाखाके ब्राह्मणोंका प्रचुर आवास सह्य पर्वतसे लेकर आन्ध्रतक बिखरा हुआ मिलता है ।

कौषीतिकी ब्राह्मणमें कुल तीस अध्याय हैं । इसमें पैंग ऋषियोंके मतोंका संकलन किया गया है । इसके वास्तविक प्रवक्ताकी ठीक-ठीक जानकारी नहीं मिलती, किंतु इसकी परम्परासे प्रतीत होता है कि इसकी रचना किसी शांखायन या कौषीतिकी नामक ऋषिने की थी । सम्भवतः इसीलिये ऋग्वेदीय शांखायन शाखा-में इसका प्रचार भी बहुत मिलता है । इसके प्रचारके मुख्य केन्द्र उत्तर गुर्जरदेशकी ओर संकेत करते हुए महार्णवने लिखा भी है—

उत्तरे गुर्जरे देशे वेदो बह्वृच ईरितः ।
कौषीतिकि ब्राह्मणं च शाखा शाङ्खायनी मता ॥

इसमें पुनर्जन्मसम्बन्धी सिद्धान्तोंका सूक्ष्म विवेचन किया गया है । हिंदू-जीवनपर इस सिद्धान्तका बड़ा व्यापक प्रभाव पड़ा है । पिछली शताब्दीमें पंडितोंमें यह सहज विश्वास हो गया था कि जहाँ कहीं भी पुनर्जन्मका सिद्धान्त मिलता है, वह भारतीय ऋषियोंकी देन है । विलियम जोन्स, कोलब्रुक, गार्वे, हापकिंग प्रभृति विद्वानोंके अनुसार सुप्रसिद्ध ग्रीक दार्शनिक पाइथागोरसने अपने पुनर्जन्मका सिद्धान्त किसी भारतीय पण्डितसे ही प्राप्त किया था । इसका प्रभाव केवल हमारे धार्मिक जीवनपर ही हावी होकर रह गया हो, ऐसी बात नहीं, अपितु यह सम्पूर्ण भारतीय साहित्यकी नस-नस तकमें समा गया है ।

यजुर्वेदीय ब्राह्मण-ग्रन्थोंमें शतपथ-ब्राह्मण सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण माना गया है । इसमें चौदह काण्ड हैं और कुल अध्यायोंकी संख्या सौ है । यह माध्यन्दिनी शाखाका ग्रन्थ कहलाता है । इसमें अन्य अनेक रुचिकर आख्यानोंके साथ-ही-साथ शाण्डिल्य आदि रहस्यमयी विद्याओंका पूर्ण विवेचन मिलता है । इसे वेदार्थोंके रहस्यकी कुंजी कहा गया है । यह वेदोंके मुख्य प्रति-पादित विषयोंका सम्यक् विवेचन करता है और साथ ही वैदिक ऐतिह्यका प्रामाणिक वर्णन भी । इसमें उस मोक्षका भी निरूपण किया गया है, जिसे प्राप्त कर यजमान आवागमनके बन्धनसे मुक्त हो जाता है—

'किं तदग्नौ क्रियते येन यजमानः पुनर्मृत्युमपजयति ।'

इस ब्राह्मण-ग्रन्थका ऐतिहासिक और लौकिक महत्त्व भी कुछ कम नहीं है; क्योंकि इसमें कई राजाओं और ऋषियोंका जो वर्णन मिलता है वह काफी विश्वसनीय है । वाजसनेय माध्यन्दिन शतपथ-ब्राह्मणके प्रचारके सम्बन्धमें एक उक्ति प्रचलित है—

'अङ्गवङ्गकलिङ्गाश्च कानीनो गुर्जरस्तथा ।'

ठीक इसीके ही अनुरूप एक काण्व-शतपथ भी है । कृष्णयजुर्वेदीय-ब्राह्मणका नाम तैत्तिरीय है, इसमें अश्वमेधादि यागोंका वर्णन मिलता है । इसे तैत्तिरीय-संहिताका परिशिष्ट समझना चाहिये । सामवेदसे सम्बन्धित ब्राह्मणमें ताण्ड्य मुख्य है । इसका प्रचार नर्मदा नदीके उत्तर भागमें विशेषरूपसे मिलता है । इसमें सोम यज्ञोंका विवेचन प्राप्त होता है । इसी तरह षड्विंश ब्राह्मणमें सायं और प्रातःकालीन संध्याओंका विधान मिलता है, जो अन्यत्र नहीं मिलता । सृष्टिकी महती शक्तिके उपासकके लिये इन दोनों संधि-बेलाओंमें यह उपासना अत्यन्त आवश्यक कही गयी है । इसके

अनन्तर यास्कका उपजीव्य ग्रन्थ दैवतब्राह्मण भी आता है, जिसमें छन्दोंका वर्णन और शब्दोंका निर्वचन है। इनके अतिरिक्त आर्षेय, साम-विद्या, संहितोपनिषद् तथा वंश आदि अत्यन्त छोटे-छोटे ब्राह्मण-ग्रन्थ भी मिलते हैं। कृष्णद्वैपायन व्यासके परम शिष्य जैमिनी तथा उनके शिष्य तलवकारद्वारा सम्पादित जैमिनीय-ब्राह्मण नामक एक विशेष उल्लेखनीय ग्रन्थ मिलता है, जिसका विशेष प्रचार कर्नाटकमें है। अथर्ववेदसे सम्बन्धित एक गोपथ-ब्राह्मण भी मिलता है जो गुजरातमें अधिक प्रचलित है। महर्षि पतञ्जलिके भाष्यानुसार कालापक और काठक नामक दो और प्रसिद्ध ब्राह्मण-ग्रन्थ थे, जिनका कभी अतीत भारतके प्रत्येक गाँवमें पाठ हुआ करता था।

दुर्भाग्यवश हमारे 'ब्राह्मण'-साहित्यके अनेक अनमोल रत्न काल-कवलित हो गये हैं। जाबाल, कंकवि, गालव, मन्त्रायणी श्वेताश्वतर, शांखायन आदि अनेक ब्राह्मण-ग्रन्थोंका उल्लेख अनेक ग्रन्थोंमें मिलता है। ये ब्राह्मण-ग्रन्थ आर्योंकी वैचारिक प्रगतिके व्यापक प्रतीक कहे जा सकते हैं।

इन ब्राह्मण-ग्रन्थोंके माध्यमसे इनके प्रवक्ता ऋषि चाहते थे कि प्रत्येक यजमानका आवास वेदवाक्योंसे गूँजता रहे; नानाविध यज्ञों, स्वाहा और स्वधासे नित्य पवित्र होता रहे। इनसे रहित यजमानका घर शोक-दायी श्मशानके समान होता है।

'स्वाहास्वधाकारविवर्जितानि
श्मशानतुल्यानि गृहाणि तानि।'

इनके प्रतिपादित विषयोंमें, आधिदैविक तत्त्वोंका विवरण, पुनर्जन्मवाद, अस्तित्ववाद, जीवनको आदर्श और संयमित बनानेके विधानोंका पूर्ण उल्लेख मिलता है। इनमें जिन कर्मकाण्डोंका विधान मिलता है, उन्हें सम्पन्न करके कोई भी यजमान सौ वर्षसे पूर्व देह-पात नहीं कर सकता। इनमें आश्रमधर्मोंका भी यथा-वत् विधान है। हमारा लोक-जीवन कैसे सुखी, सम्पन्न और सदाचारमय हो सकता है, स्त्री-पुरुषके क्या कर्त्तव्य हैं—ब्राह्मण-ग्रन्थ इन सबपर प्रकाश डालते हैं। ये यजमानकी गृहिणीकी महिमाका उद्घोष करते हुए कहते हैं—**'श्रिया वा एतद्रूपं यत्पत्न्यः'** अर्थात् यह पत्नी ही लक्ष्मी है। इनमें विवाहके प्रकारों और उनके आदर्शोंका भी विवेचन किया गया है। अतिथि-सत्कार और सत्यकी गरिमापर प्रकाश डाला गया है—**'अमेध्यो वै पुरुषे यदनृतं वदति।'** इनमें पुण्य और पापके साथ ही उनके कर्मोंके स्वरूपकी परिगणनाएँ भी की गयी हैं।

इनके अनुसार सभी धर्मोंका आधार गृहस्थ-धर्म है। उसकी सम्पन्नता ही हमारी लौकिक और पारलौकिक सुख-प्राप्तिका कारण बनती है। इसीलिये इनमें ऐसे कर्मकाण्डोंका विधान किया गया है, जिनसे हमारा वातावरण शुद्ध बनता है। वैदिक ऋषियोंने यज्ञको ही वह सर्वश्रेष्ठ कर्म कहा है, जिससे हमारा लौकिक जीवन श्रीसम्पन्न होता है—**'यज्ञो हि श्रेष्ठतमं कर्म।'** यज्ञनिष्पन्न धूम्र उन पर्जन्योंको जन्म देता है जो अपनी सरस जलधारासे सृष्टिमें प्राणोंकी बहिया लाता है। सम्भवतः ऐसे ही यागजन्य मेघोंके सम्बन्धमें महाकवि कालिदासने कहा होगा—

'धूमज्योतिस्सलिलमरुतां संनिपातः क्व मेघः।'

इसमें दो मत नहीं कि हमारा ब्राह्मण-साहित्य वैदिक मनीषाका एक शाश्वत किंतु एक व्यावहारिक प्रयोग रहा था।

श्रीसत्यनारायणव्रत-कथा और उसका महत्त्व

(लेखक—याज्ञिकभूषण पं० श्रीराधाचरणजी शर्मा, एम्० ए०, साहित्यरत्न)

श्रीसत्यनारायण-व्रतकथाका उल्लेख स्कन्दपुराणान्तर्गत रेवाखण्डमें मिलता है। पुराणोंमें दिव्य मङ्गलमय भगवच्चरित्रोंका वर्णन एवं भक्ति, ज्ञान, वैराग्य एवं तन्त्र-मन्त्रोंका साङ्गोपाङ्ग वर्णन है। आजके इस ध्वंसात्मक युगमें पौराणिक साहित्यका महत्त्व और भी बढ़ गया है। हमारे धर्मनिष्ठ मनीषियोंने अपने धर्मग्रन्थोंके द्वारा मानवमात्रको उदाहरण प्रस्तुत कर प्रेम, दया, शान्ति, सदाचारिता, सत्यपालन, परोपकार, विश्वबन्धुत्व आदिका पाठ पढ़ाकर सन्मार्गपर अग्रसर किया है। परंतु आज उसी साहित्यको, जिसने भारतको विश्वका गुरु बनाया, शङ्काकी दृष्टिसे देख रहे हैं, कितना लज्जास्पद विषय है।

दुर्भाग्यसे जबसे हमारी संस्कृति एवं सभ्यताका पाश्चात्त्य सभ्यताके साथ सम्मिश्रण हुआ है, तबसे हमारी सारी शिक्षाप्रणाली ही परिवर्तित हो गयी है। अधिकांशतः यहाँकी जनता शास्त्रों तथा पुराणादिसे अनभिज्ञ है और अपनी शास्त्रीय धार्मिक बुद्धि खो बैठी है। अतः गौ, ब्राह्मण तथा धर्मशास्त्रोंकी बातोंको भी शङ्काकी दृष्टिसे देखती है। मनुजी महाराजने धर्मके दस लक्षण बतलाये हैं—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥

'धैर्य, क्षमा (सहनशीलता), मनको वशमें रखना, चोरी न करना, बाहर-भीतरकी पवित्रता, इन्द्रियोंको वशमें रखना, सात्त्विक बुद्धि, सात्त्विक ज्ञान, सत्य बोलना एवं क्रोध न करना—ये दस लक्षण धर्मके हैं।'

इन धर्मके दस लक्षणोंमेंसे **'सत्यान्नास्ति परो धर्मः'** सत्यसे बढ़कर संसारमें दूसरा धर्म नहीं है ! वेद कहते हैं—**'सत्यं वद, धर्मं चर,'** (सत्य बोलना चाहिये, तथा धर्मसे चलना चाहिये।) **'सत्यान्न प्रमदितव्यम्'** (सत्यसे प्रमाद नहीं करना चाहिये।) **'असत्यं न वदेत्'** (झूठ न बोले) **'एष वैदिकसनातनो धर्मः'** (ऐसा वेदोक्त सनातन धर्म है)।

सत्यव्रत पालन करनेसे धर्मके सभी लक्षण मनुष्यमें उसी प्रकार आकर मिलने लगते हैं, जैसे महानदमें लघुसरिताएँ ! ऐहिक, पारलौकिक सुखका मूल साधन 'सत्यव्रत-पालन' है। आजकल यह कठिन कलिकाल चल रहा है। यद्यपि मुक्तिसाधन एवं भगवद्-प्राप्तिके पुराणोंमें नाना प्रकारके विधान वर्णित हैं, किंतु कलिकालमें उनका पालन करना अत्यन्त कठिन है। अतः इन्हीं सारी कठिनाइयोंको देखते हुए कलिकालमें सत्यव्रतका विशेष महत्त्व है।

विशेषतः कलियुगे लघूपायोऽस्ति भूतले।

'विशेषकर कलिकालमें भूमिपर यही सरल उपाय है।' मनुष्य सदैव सत्यव्रतका पालन बिना सतत अभ्यासके नहीं कर सकता, किंतु एक दिन तो वह ब्रह्मचर्यसे रहकर सत्यव्रतका पालन कर सकता है और अपने विगत जीवनके विषयमें चिन्तन भी कर सकता है। यदि एक दिन भी सत्य बोलना कठिन दीखता हो तो **'मौनान्नास्ति परं तपः'** उस दिन मौनव्रत धारण करके सत्यव्रतका पालन कर सकता है। जैसे किसी पदको प्राप्त करनेके लिये अनेक परीक्षाओंको उत्तीर्ण करना पड़ता है, अनेक वर्षोंका समय उन परीक्षाओंकी तैयारीमें लगाना पड़ता है, तब कहीं सतत प्रयत्नसे—अभ्याससे उस पदको प्राप्त कर पाता है। इसी भाँति मनुष्य एक दिन सत्यव्रतका पालन करे, भगवान् नारायणसे प्रार्थना करे कि वे मेरी इस प्रतिज्ञामें सहायता दें और इस तरह वह नित्य-प्रति अपने जीवनमें सत्यपूर्ण व्यवहार लानेकी चेष्टा

करे। जैसे भुवनभास्कर भगवान् श्रीसूर्यदेवके उदय होनेपर तिमिरकी सम्भावना नहीं रहती, उसी प्रकार हृदयमें सत्यव्रत पालन करनेकी धारणा कर लेनेपर तथा ईश्वरकृपाको ध्यानमें रख लेनेपर फिर कभी भी असत्य-पूर्ण वातावरण रहनेकी सम्भावना नहीं रहती और इस प्रकार वह धर्मनिष्ठ सत्यव्रतका पालन करते हुए अपने लक्ष्य मोक्षको प्राप्त कर लेता है। उसकी इहलौकिक एवं पारलौकिक यात्राएँ सुखमय हो जाती हैं; क्योंकि—

सत्यं व्रतं तपः शौचं सत्यं विसृजते प्रजाः ॥
सत्येन धार्यते लोकः स्वः सत्येनैव गच्छति ।

(ना० पूर्व० ४३ । ८१-८२)

'सत्य ही व्रत, तपस्या तथा पवित्रता है; सत्य ही प्रजाकी सृष्टि करता है; सत्यसे यह लोक धारण किया जाता है तथा सत्यसे ही मनुष्य स्वर्गलोकको जाता है।'

असत्य तमोगुणस्वरूप होता है, जो मनुष्यको नरककी ओर ले जाता है। तमोगुणसे लिप्त हो जानेके कारण मनुष्य ज्ञानमय प्रकाशको नहीं देख पाता।

इसी सत्यव्रतका पालन करते हुए भगवान् नारायण-का पूजन है। नर और नारायणका अभिन्न सम्बन्ध है। भगवान् नारायणकी उदारता, भक्तवत्सलताका वर्णन नारदपुराणमें मिलता है।

पूजितो नमितो वापि संस्मृतो वापि मोक्षदः ।
नारायणो जगन्नाथो भक्तानां मानवर्द्धनः ॥

(ना० पू० ३८ । ५७)

'भक्तोंका मान बढ़ानेवाले जगदीश्वर भगवान् नारायण पूजन, नमस्कार अथवा स्मरण कर लेनेपर ही जीवको मोक्ष प्रदान करते हैं।'

भगवान् विष्णुसे परे कोई भी वस्तु नहीं है।

धर्माणि विष्णुश्च फलानि विष्णुः
कर्माणि विष्णुश्च फलानि भोक्ता ।
कार्यं च विष्णुः करणानि विष्णु-
रस्मान्न किंचिद् व्यतिरिक्तमस्ति ॥

(ना० पूर्व० १३ । ५०)

'भगवान् विष्णु ही धर्म हैं, धर्मके फल भी भगवान् विष्णु ही हैं। इसी प्रकार कर्म और कर्मोंके फल और उसके भोक्ता भी भगवान् विष्णु ही हैं। कार्य भी विष्णु हैं, कारण भी विष्णु ही हैं। उनसे भिन्न कोई भी वस्तु नहीं है।'

इस समस्त ब्रह्माण्डके नायक भगवान् विष्णु ही हैं।

विष्णोः सकाशादुद्भूतं जगत्तत्रैव च स्थितम् ।
स्थितिसंयमकर्तासौ जगतोऽस्य जगच्च सः ॥

(वि० पु० १ । १ । ३१)

'यह जगत् विष्णुसे उत्पन्न हुआ है, उन्हींमें स्थित है। वे ही उसकी स्थिति और लयके कर्ता हैं तथा यह जगत् भी वे ही हैं।'

इस सत्यनारायण-व्रत-कथाके पात्रोंमें श्रीशौनकजी महाराज एवं श्रीनारदजीका प्रमुख स्थान है। आज हमें जो भी पौराणिक साहित्य उपलब्ध हो रहा है, यह सब इन्हींकी कृपाका फल है। इन्होंने सर्वजन-सुखाय, सर्वजनहितायकी कामना सामने रखकर इस पौराणिक साहित्यका निर्माण कराया है। तभी भगवान् नारायण भी श्रीमुखसे इनकी प्रशंसा करते हैं।

'साधु पृष्टं त्वया वत्स लोकानुग्रहकाङ्क्षया ।'

'अरे नारद ! आज तुमने संसारवासियोंके ऊपर कृपा करके उनकी भलाईके लिये बड़ा ही सुन्दर प्रश्न पूछा है।' आदि।

जहाँतक इस सत्यनारायण-व्रत-कथाके कथासाहित्य-का सम्बन्ध है, यह हमारी वर्णव्यवस्थाकी ओर संकेत करता है। व्यतीत हुई घटनाओंके क्रमबद्ध इतिहासको ही कथा कहते हैं। शतानन्द जातिका ब्राह्मण था, लकड़हारा शूद्र था, साधु वणिक् वैश्य था और उल्का-मुख एवं तुङ्गध्वज राजा क्षत्रिय थे। अर्थात् इस व्रतके अधिकारी सभी वर्णके नर-नारी हैं। एक-एक वर्णका एक-एक उदाहरण प्रस्तुत कर इस व्रतकी महत्ता

बतलायी गयी है। ब्राह्मण, वैश्य, क्षत्रिय एवं शूद्रके क्या कर्तव्य हैं, चारों वर्णोंके विषयमें वेदमें कहा है।

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्याᳬ शूद्रो अजायत॥
(य० ३१। ११)

'राष्ट्ररूपी विराट्स्वरूपके चारों वर्ण चार अङ्गरूप हैं। ब्राह्मण राष्ट्रका मस्तक (मस्तिष्क) है, क्षत्रिय भुजा है, वैश्य ऊरु है और शूद्र पाँव है।'

जैसे सम्पूर्ण शरीरकी रक्षा मस्तक, हस्त, उदर और चरण—इन चार अङ्गोंद्वारा होती है। उसी प्रकार चारों वर्णोंको अपने राष्ट्ररूपी शरीरकी रक्षामें तत्पर रहना चाहिये।

शतानन्द जातिका ब्राह्मण है। ब्राह्मणोंका कर्तव्य है—

अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा।
दानं प्रतिग्रहं चैव ब्राह्मणानामकल्पयत्॥
(मनु० १। ८८)

शमो दमस्तपः शौचं संतोषः क्षान्तिरार्जवम्।
ज्ञानं दयाच्युतात्मत्वं सत्यं च ब्रह्मलक्षणम्॥
(श्रीमद्भा० ७। ११। २१)

'वेद पढ़ना-पढ़ाना, यज्ञ करना-कराना, दान देना, दान लेना तथा मनको वशमें रखना, इन्द्रियोंको विषयोंकी ओरसे रोकना, तप करना, पवित्र रहना, संतोष रखना, क्षमा करना, सरलता, विवेक, दया, भगवन्निष्ठा और सत्य—ये सब ब्राह्मणोंके लक्षण हैं।'

किंतु शतानन्द हमें एक दीन भिक्षुकके रूपमें दिखायी पड़ता है। अतः उसको उसका कर्तव्य बतानेके हेतु भगवान् नारायण बूढ़े ब्राह्मणके वेषमें आते हैं और पूछते हैं—

'किमर्थं भ्रमसे विप्र महीं नित्यसुदुःखितः।'

'अरे ब्राह्मण! इस पृथ्वीपर नित्यप्रति दुखी होकर तुम क्यों विचरण करते हो?' एक तो इस पङ्क्तिका यह सीधा-सा अर्थ है। एक अर्थ और भी है जिसके द्वारा भगवान् उसके कर्तव्यका उसको बोध कराना चाहते हैं। वह यह है, 'किम्+अर्थं भ्रमसे विप्र महीं नित्यं सुदुःखितः।' अरे 'विप्र'! 'किम्', यानी क्या तुम 'अर्थ'-धनके लिये भ्रमण कर रहे हो? यदि धनके लिये भ्रमण कर रहे हो तो ब्राह्मणोंका कर्तव्य भिक्षा माँगनेका नहीं है और यदि धनकी कामना भी तुम्हारे हृदयमें है तो वह अब पूर्ण हो चुकी है; क्योंकि लक्ष्मीपति नारायणके सम्मुख आ जानेपर तो दरिद्रता रह ही नहीं सकती। परंतु शतानन्द उस भावको नहीं पहचान पाता। भगवान्के बताये हुए विधानसे सत्यव्रत पालन करनेसे शतानन्दके सारे दुःख दूर हो जाते हैं और अन्तमें वह मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

चाहे ब्राह्मण हो या शूद्र, बिना सत्याचरणके किसीका भी जीवन सुखमय नहीं हो सकता। शूद्रोंका धर्म है।

शूद्रस्य संनतिः शौचं सेवा स्वामिन्य मायया।
अमन्त्रयज्ञो ह्यस्तेयं सत्यं गोविप्ररक्षणम्॥
(श्रीमद्भा० ७। ११। २४)

'नम्रता, स्नानादिसे शुद्धता, निष्कपट भावसे स्वामीकी सेवा करना, चोरी न करना, सत्य बोलना और गो-ब्राह्मणकी रक्षा करना—ये शूद्रोंके लक्षण हैं।'

लकड़हारा लकड़ियाँ काटकर सेवाकार्य कर रहा है। शतानन्दद्वारा सत्यनारायण-व्रत-महिमाको सुनकर अपना ऐहलौकिक एवं पारलौकिक जीवन सँभाल लेता है।

राष्ट्रकी रक्षाका भार क्षत्रिय-समाजपर रहता है। प्रत्येक नरेशके अंदर इन लक्षणोंका होना आवश्यक है—

प्रजानां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च।
विषयेष्वप्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समासतः॥
(मनु० १। ८९)

शौर्यं वीर्यं धृतिस्तेजस्त्याग आत्मजयः क्षमा ।
ब्रह्मण्यता प्रसादश्च रक्षा च क्षत्रलक्षणम् ॥
(श्रीमद्भा० ७ । ११ । २२)

'प्रजाकी रक्षा करना, दान देना, यज्ञ करना, वेद पढ़ना, विषयमें मन न लगाना, शूरता, प्रभाव, धीरज, तेज, उदारता, मनको वशमें रखना, क्षमा, साधु-ब्राह्मणोंका सत्कार और न्याय करना—ये क्षत्रियोंके लक्षण हैं ।' उल्कामुख राजा जितेन्द्रिय, सत्यवादी, देवताओं और ब्राह्मणोंके प्रति श्रद्धालु है । एक शासकके अंदर जो गुण होने चाहिये, वे इसमें विद्यमान हैं । तुङ्गध्वज राजाको अपने पदका दर्प था, अतः उसे कष्ट उठाने पड़े । भगवान्‌के सम्मुख सभी वर्गके नर-नारी समान अधिकार रखते हैं । राजा श्रद्धालु गोप-ग्वालोंका प्रसाद तिरस्कृत कर दे और दुःख न पाये, यह कैसे सम्भव हो सकता था । अतः तुङ्गध्वज नृपका चरित्र दर्पी पुरुषोंको चुनौतीस्वरूप है ।

वैश्य राष्ट्ररूपी नौकाके कर्णधार हैं । व्यापार-सम्बन्धी सारा कार्य उन्हींपर आधारित है । ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यस्त इन्हींपर आश्रित हैं । इनके कर्तव्य हैं—

पशूनां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च ।
वणिक्पथं कुसीदं च वैश्यस्य कृषिमेव च ॥
(मनु०)

देवगुर्वच्युते भक्तिस्त्रिवर्गपरिपोषणम् ।
आस्तिक्यमुद्यमो नित्यं नैपुण्यं वैश्यलक्षणम् ॥
(श्रीमद्भा० ७ । ११ । २३)

'गौ आदि पशुओंकी रक्षा करना, कृषि करना, दान देना, यज्ञ करना, वेद पढ़ना, वाणिज्य करना, देवता-गुरुके प्रति भक्ति रखना, धर्म, अर्थ, काम—इस त्रिवर्गके द्वारा संतुष्ट होना, आस्तिकता, नित्य उद्योग और चतुरता—ये वैश्योंके लक्षण हैं ।'

इन लक्षणोंके विपरीत जब साधु चलता है अर्थात् मिथ्या भाषण करता है और कन्याके जन्मोत्सवके पश्चात् विवाहोत्सवके समयपर सत्यनारायण भगवान्‌का पूजन करनेको कहा जाता है एवं तब भी पूजन नहीं करता, तो फलस्वरूप वह नाना प्रकारकी यातनाएँ भोगता है । अन्तमें सत्यव्रतके पालन एवं नारायणके पूजनसे ही उसका उद्धार होता है ।

अतः कलिकालमें श्रीसत्यनारायण-व्रत-कथासे बढ़कर अन्य कोई सुलभ उपाय नहीं है, जिससे मनुष्यको ऐहलौकिक एवं पारलौकिक सुख प्राप्त हो सके । सभी वर्णोंको सत्यनारायण-व्रत-कथाका महत्त्व समझकर अपने कर्तव्यका पालन करना चाहिये ।

सत्यव्रतं सत्यपरं त्रिसत्यं
सत्यस्य योनिं निहितं च सत्ये ।
सत्यस्य सत्यमृतसत्यनेत्रं
सत्यात्मकं त्वां शरणं प्रपन्नाः ॥
(श्रीमद्भा० १० । २ । २६)

जगत्‌के जीवन, धन, अधिकार प्रत्यक्ष क्षणभङ्गुर और दुःखद हैं

क्षणभङ्गुर प्रत्यक्ष जगत्‌के सारे जीवन, धन, अधिकार ।
इनके लिये कामना करना, पाना इन्हें सभी बेकार ॥
सुख न कभी होगा इनसे, ये दुःखोंके हैं पारावार ।
बड़ी मूर्खता है जो इनमें कुछ भी रखना ममता-प्यार ॥
इन सबका आना-जाना है सब प्रभुका मायाविस्तार ।
इनमें रहो असङ्ग, भजो नित मायापतिको सभी प्रकार ॥

दुर्भिक्षका कारण और निवारण

(लेखक—पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा)

भिक्षायाः प्रायो दुर्लभत्वं—निष्फलत्वमिति दुर्भिक्षम्।
इति अव्ययीभावसमासः॥
(शब्दकल्पद्रुम)

जिस समय भिक्षा भी दुर्लभ हो जाय—निष्फल हो जाय, उस समयको 'दुर्भिक्ष'* कहा जाता है। विभिन्न शास्त्रोंमें इसके अनेक कारण बतलाये गये हैं। रघुनन्दन भट्टके ज्योतिषतत्त्वके अनुसार प्रमाथी, व्यय, क्षय आदि संवत्सरोंके आनेपर दुर्भिक्ष होता है—

राष्ट्रभङ्गं च दुर्भिक्षं तस्करैरुपपीडनम्।
जानीयाद् विग्रहं घोरं प्रमाथिनि वरानने॥
दुर्भिक्षं जायते घोरं सर्वोपद्रवसंयुतम्।
अनावृष्टिः समाख्याता व्यये संवत्सरे प्रिये॥
दुर्भिक्षं शर्वरीवर्षे व्यवहारो विपर्ययः।
देशभङ्गं च दुर्भिक्षं क्षये संवत्सरे प्रिये॥
—इत्यादि

अद्भुतसागरमें असमयमें वृक्षोंके फल-फूल लगना, कुत्ते, सियार, गिद्ध, कौओं आदिका मांस-हड्डी लेकर श्मशानसे गाँव-घरकी ओर जाना—ये दुर्भिक्षके लक्षण कहे गये हैं—

मांसास्थीनि समादाय श्मशानाद् गृध्रवायसाः।
श्वा शृगालोऽथवा मध्ये पुरस्य प्रविशन्ति चेत्॥
विकिरन्ति गृहादौ च श्मशानं सा मही भवेत्।
संग्रामश्च महाघोरो दुर्भिक्षं मरणं तथा॥
अकाले फलपुष्पाणि देशविद्रवकारणम्।

मन्वादिने दुर्भिक्षके ये कारण कहे हैं—

यद्राष्ट्रं शूद्रभूयिष्ठं नास्तिकाक्रान्तमद्विजम्।
विनश्यत्याशु तत्कृत्स्नं दुर्भिक्षव्याधिपीडितम्॥
(मनु० ८। २२)

अपूज्या यत्र पूज्यन्ते पूज्यपूजाव्यतिक्रमः।
त्रीणि तत्र प्रजायन्ते दुर्भिक्षं मरणं भयम्॥ †
(स्कन्द० माहेश्वर० केदार० ३। ४८)

अर्थात्—जब जहाँ नास्तिकताकी वृद्धि होती है, सदाचारी विद्वान् ब्राह्मणोंकी अवहेलना—तिरस्कार-बहिष्कार तथा अज्ञानी शूद्रादिका विशेष आदर-स्वागत होने लगता है, तब वहाँ भय, दुर्भिक्ष, राष्ट्रभङ्ग आदि होते हैं। इसी प्रकार विद्वान् ब्राह्मणसे कर लेने, उसकी जीविका आदिकी व्यवस्था न करनेसे भी दुर्भिक्षकी बात कही गयी है—

यस्य राज्ञस्तु विषये श्रोत्रियः सीदति क्षुधा।
तस्यापि तत्क्षुधा राष्ट्रमचिरेणैव सीदति॥
(मनु० ७। १३४)

म्रियमाणोऽप्याददीत न राजा श्रोत्रियात् करम्।
न च क्षुधास्य संसीदेच्छ्रोत्रियो विषये वसन्॥
(मनु० ७। १३३)

कलियुगमें प्रायः ये कारण साधारण होते हैं। दुःस्वप्न-शकुनादि प्रकृतिप्रदत्त लक्षणोंको बार-बार सत्य देखते हुए भी धर्मकी अवहेलना करना—यही कलियुगकी विशेषता है। अतः ऋषियों, महात्माओंने इसमें बार-बार अकाल-दुर्भिक्ष पड़नेकी बात कही है—

कलि बारहिं बार दुकाल परै। बिनु अन्न दुखी बहु लोग मरै॥

(छान्दोग्योपनिषद् १। १०; १—७) में भी कुरुदेशमें किसी एक भारी दुर्भिक्षमें उषस्तिके महाव्रतसे माँगकर उच्छिष्ट उड़द खानेकी बात आयी है। वाल्मीकीय रामा० बालकाण्ड ९-१० सर्गोंमें भी अंगदेशमें दुर्भिक्ष पड़ने तथा शृंगीऋषिके आनेपर उसे निवृत्त होनेकी बात आयी है।‡ महाराज दशरथके राज्यमें शनिद्वारा

* पहले प्रत्येक आदमी ब्रह्मचारी, विद्यार्थी, संन्यासी, योगी आदिको भिक्षा देकर ही खाता था। न भिक्षा देनेवाला निन्द्य नजरोंसे देखा जाता था—

'अघं स केवलं भुङ्क्ते यः पचत्यात्मकारणात्' (मनु० ३। ११८) भिक्षाके लिये शास्त्रकारोंकी दृढ़ आज्ञा है—

'भिक्षां वै भिक्षवे दद्याद् विधिवद् ब्रह्मचारिणे।'

(कूर्मपुराण १७, मनु० ३। ९४, याज्ञवल्क्य० १। १०८, हारीत० ४। ६०, व्यास० ३। ४४) इत्यादि।

† (३। ४५—मोर तथा वेंकटे० संस्क०)

‡ महाभारत, वनपर्व ११०। ४१—४८में भी इस घटना-का उल्लेख है। इसमें ब्राह्मणोंका कोप ही कारण निर्दिष्ट है।—

रोहिणी-शकटके भेद तथा भीषण अकालकी बात पद्मपुराण उत्तरखण्ड १२४वें अध्याय (मोर तथा वेंकटेश्वर प्रेसका संस्करण) में भी एक बड़े भयङ्कर दुर्भिक्षकी चर्चा महर्षि वसिष्ठने की है—

द्वादशाब्दं पुरा राजन् न ववर्ष बलाहकः।
तेनोद्विग्नाः प्रजाः क्षीणाः गताः सर्वा दिशो दश॥ (९४)

उस समय १२ वर्षोंतक एक बूँद भी वर्षा न हुई। सारा भूमण्डल जल, फल, मूल, अन्नसे शून्य हो रहा था। इसी प्रकारके दुर्भिक्षकी चर्चा 'योगवाशिष्ठ'में लवणराजाके राज्यमें कहीं उत्तरापाण्डवके सुदूरवर्ती क्षेत्रमें पड़ा था—

अवृष्टिदुःखमभवद् भीषणं भग्नमानवम्।
महतानेन दुःखेन सर्वे ते ग्रामका जनाः॥
विनिर्गत्य गता दूरं सर्वे पञ्चत्वमागताः॥

(योगवाशिष्ठ ३ । १२१ । २-३)

अवग्रहोग्राशनिदग्धदेशे·······
हा पुत्रि पुत्रावृतसर्वगात्रे
दिनत्रयाभोजनजर्जराङ्गि ।
कृत्वासिना वर्मणि जीर्णदेहाः
कथं क मुक्ता भवतासवस्ते॥

'तुमने दुर्भिक्षसे जले देशमें तीन दिन उपवास रहकर जर्जर अङ्गोंमें तलवार घुसेड़कर अपने प्राण कैसे छोड़े ?'

महाभारत शान्तिपर्वके १४१ तथा ब्रह्मपुराणके ९३वें अध्यायमें त्रेता-द्वापरकी संधिमें पड़े एक भीषण दुर्भिक्षका उल्लेख वेदव्यासजीने किया है। उन दिनों बादलोंकी कौन पूछे, कुहरों तकका भी दर्शन नहीं हुआ। उस समयकी स्थिति सर्वाधिक भीषण थी और ग्रहयोग भी भयंकर हो गये थे—

त्रेताविमोक्षसमये द्वापरप्रतिपादने।
न ववर्ष सहस्राक्षः प्रतिलोमोऽभवद् गुरुः॥
जगाम दक्षिणं मार्गं सोमो व्यावृत्तलक्षणः।
नावश्यायोऽपि तत्राभूत् कुत एवाभ्रजातयः॥
बभूवुः क्षुधिता मर्त्याः खादमानाः परस्परम्॥

न ववर्ष सहस्राक्षस्ततोऽपीड्यन्त वै प्रजाः।
···कुपितास्तव राजेन्द्र ब्राह्मणा निष्कृतिं चर॥

अंगदेशमें इन्द्रने १२ वर्षोंतक वर्षा नहीं की। प्रजा बहुत पीड़ित हुई। पुरोहितने कहा 'राजन्! तुम्हारे ऊपर ब्राह्मण रुष्ट हैं, अतः उसका प्रायश्चित्त करो।'

स्थिति यहाँतक बिगड़ गयी थी कि विश्वामित्रको कुत्तेके मांसके लिये चाण्डालके घरमें चोरी करनेकी नौबत पहुँच गयी (वनपर्व १४१)। ब्रह्मपुराणके अनुसार मरी कुतिया वहीं शिष्योंको पड़ी मिल गयी। उसीसे हवनकी तैयारीपर इन्द्रने वर्षा की (९३)।

महाभारत अनुशासनपर्व (९३ । २४) में भी एक ऐसे ही भीषण दुर्भिक्षकी बात है, जिसमें सप्तर्षियोंको कमलनाल खाना पड़ा, तथापि वृषादर्भि राजाके भोजन-प्रतिग्रह आदिको उन लोगोंने स्वीकार नहीं किया था। यह कथा पद्मपुराण सृष्टिखण्ड १९। २३० तथा स्कन्द० नागरखण्ड ३२ आदिमें भी आती है। मनुस्मृति १० । १०५—१०८ में भी ऐसे दुर्भिक्ष-संकटकी बातें हैं। भागवतादिमें राजा वेनके राज्यान्तमें भी भीषणतम दुर्भिक्ष पड़नेकी बात विस्तारसे मिलती है। मार्कण्डेयपुराण- देवीमाहात्म्य ११ । ४१ में एक सौ वर्षकी अनावृष्टि तथा दुर्भिक्ष पड़नेकी बात है—

'शतवार्षिक्यामनावृष्ट्याम्'

श्रीरमेशचन्द्र दत्तके द्वारा प्रस्तुत 'दुर्भिक्ष-कमीशनकी रिपोर्ट'में भी इधरके भीषण दुर्भिक्षोंका वर्णन है। ई० पू० ४३६में इटलीमें भारी दुर्भिक्ष पड़ा था। उसमें हजारों आदमी टाइबर नदीमें भूखसे छुटकारा पानेके लिये डूब मरे थे। भारतमें ६५०, ८७९, ९४१, १०२२, १०३३ में भारी दुर्भिक्ष पड़े। ८७९का दुर्भिक्ष विश्वव्यापी था। ११४८—५९ तक भारतमें व्यापक दुर्भिक्ष था। १३९६—१४०७ का भारतीय दुर्भिक्ष 'दुर्गादेवी'के नामसे विख्यात रहा है। १८८९-९० में चीनमें भीषण दुर्भिक्ष था। १८९१—९२ में रूसमें दुर्भिक्ष पड़ा था। १९४५-४६में बंगालमें अकालसे बीसों लाख आदमियोंकी मृत्यु हुई।

चढ़ते हुए विचित्र भाव

कहा जाता है कि पृथु, राम आदि राजाओंके राज्यमें अन्न-वस्त्रादिका कोई मूल्य न था—

'यत्प्राप्यते वस्तु विनार्घतो हि।'

(सत्यसंहिता)

'बस्तु बिनु गथ पाइये।'

(रा० मा०)

महाभारतकालमें चावल आदिका भाव दो पैसे मनका प्राप्त है। भविष्यपुराण तथा कौटल्यके अनुसार मूल्य तथा अदला-बदलीका भाव स्थिर करनेपर जोर है। कौटल्यके

समय चावल एक आने मन था। घी १२ आने मन था। (अर्थशास्त्र पृ० २३५ लाहौरका संस्करण) साधारण श्रमिककी ॥) तथा लेखकोंकी आय ५)से १०) मासिकतक थी। * (मेगास्थनी-यात्रा-विवरण)। फाहियान आदिके समय भी यही मूल्य रहा। साईस्ता खाँके जमानेमें चावल १) का ८ मन था। इब्न बतूताने गालका भाव, १४वीं शतीमें प्रायः इसका ड्योढ़ा बतलाया। 'आइने अकबरी' तथा मोरलैंडके 'India at the death of Akbar' अनुसार अकबरके समय बढ़िया चावल ११ आने मन, घी ५ रुपये मन था। गाय ८ आने तकमें मिलती थी। १७२९ में 'फोर्ट विलियम रेवेन्यू कन्सटेशन' के अनुसार बंगालके मुर्शिदाबाद जिलेमें चावल १२ आने मन बिकता था। १८१० में अकबर हैमिल्टनके अनुसार चावल १।) मन था। १९३९ तक चावल २॥) मन था। १९३०—४० तक विद्यार्थियोंको दाम, कौड़ी-रोड़ी, बौड़ी, फौड़ीमें अन्नके भावपर हिसाब बतलाया जाता था। मनुके अनुसार अर्थलोभ तथा नास्तिकताकी वृद्धि ही मूल्य-वृद्धिका प्रधान कारण है। ज्योतिषके अनुसार पाद्मोक्त शनि आदि ग्रहोंका रोहिणी-शकट-भेदना आदि भी कारण है। गत अष्टग्रहीयोग, क्षयमासादि भी हैं—

भानुर्भौमो भृगुश्चैव शनिक्षेत्रं समाश्रिताः।
यदा निशापतिस्तत्र तदा दुर्भिक्षतो भयम्॥
रोहिणीशकटं राहुर्भिद्यात् सौरोऽथवा कुजः।
यदा तदा जगत्सर्वं संक्षयं यात्यसंशयम्॥
सप्त ग्रहा यदैकत्र गोलयोगस्तदा भवेत्।
दुर्भिक्षं राष्ट्रपीडा च तस्मिन् योगे न संशयः॥

अर्थात् सूर्य, भौम, शुक्र, चन्द्र—ये शनिके घरमें एकत्र हों अथवा राहु-शनि रोहिणी-शकट बेधें, सात ग्रह एकत्र हो जायँ तो दुर्भिक्ष होता है। ये सभी योग प्रायः गत अष्टग्रही-के समय थे ही; पर क्या ये ही ग्रह मनमाना एकत्र हो जाते हैं, अथवा इन दुश्शकुनों एवं ग्रहसंचारके भी कुछ कारण होते हैं। विचारनेपर ज्ञात होता है कि नास्तिकताकी वृद्धि, अर्थ-कामकी प्रधानता, वर्णधर्म तथा ईश्वरकी अवहेलना ही इन ग्रहयोगों आदि सभी क्लेशोंके भी कारण हैं। यथा—

दुर्भिक्षादेव दुर्भिक्षं क्लेशात्क्लेशं भयाद् भयम्।
मृतेभ्यः प्रमृता यान्ति दरिद्राः पापकर्मिणः॥
व्यालकुञ्जरदुर्गेषु सर्पचौरभयेषु च।
हस्तावापेन गच्छन्ति नास्तिकाः किमतः परम्॥
पुलाका इव धान्येषु पूत्यण्डा इव पक्षिषु।
मशका इव मर्त्येषु येषां धर्मो न कारणम्॥

(महाभारत शान्ति० ३२२। ३, ५, ७)†

अर्थात् नास्तिक, पापी, धर्महीन प्राणी दुर्भिक्षसे दुर्भिक्ष-को, क्लेशसे क्लेशको, भयसे भयको और मृत्युसे मृत्युको प्राप्त होते तथा दरिद्रता भोगते हैं। वे सर्प, चोर, हाथी, वन आदिके भयसे पीडित होते रहते हैं। जिनका उद्देश्य धर्म-पालन नहीं है, ऐसे मनुष्य मानव-समाजके भीतर वैसे ही समझे जाते हैं, जैसे धानोंमें थोथा धान और पक्षियोंमें सड़ा हुआ अंडा। ठीक इसके विपरीत सदाचारी धर्मात्माओंकी स्थिति सर्वदा सुख-आनन्दमय होती है—

उत्सवादुत्सवं यान्ति स्वर्गात् स्वर्गं सुखात् सुखम्।
श्रद्दधानाश्च दान्ताश्च धनस्थाः शुभकारिणः॥
प्रियदेवातिथेयाश्च वदान्याः प्रियसाधवः।
क्षेम्यमात्मवतां मार्गमास्थिता हस्तदक्षिणम्॥

(महाभारत शान्ति० ३२३। ४, ६)

---

* मनुस्मृति आदिमें यह वेतन प्रदिष्ट है—

प्रत्यहं कल्पयेद् वृत्तिं स्थानं कर्मानुरूपतः॥
पणो देयोऽवकृष्टस्य षडुत्कृष्टस्य वेतनम्।
षाण्मासिकस्तथाच्छादो धान्यद्रोणस्तु मासिकः॥

(मनु० ७। १२५-२६)

कार्यके अनुसार वेतन निश्चित कर दे। साधारण कर्मकरको प्रतिदिन एक पण (२ तोले वजनकी ताम्र-मुद्रा), उत्तम दासको ६ पण दे। ६ महीनेपर वस्त्राच्छादन तथा १ द्रोण अन्न प्रतिमास दे। उत्कृष्टको ६ गुना अधिक दे।

उत्कृष्टस्य तु भृतिरूपाः षट् पणा देयाः। अनयैव कल्पनया षाण्मासिकानि षड् वस्त्रयुगानि देयानि। प्रतिमासं षण् मास्या द्रोणा देयाः। मध्यस्य मध्यमः। (कुल्लूक भट्ट)

गौतम धर्मसूत्र (२। १। २०—४० तक) में वेतन-क्रम इससे अधिक है।

विशेष द्रष्टव्य 'माडर्न रिव्यू' भाग ६८ अङ्क १०में श्रीदेवज्योति वर्मनका लेख।

† महाभारत शान्तिपर्वकी कुंभकोणम् तथा मद्रासकी प्रतियोंमें ७७। २८ के बाद ये श्लोक भी इस विषयमें ध्येय हैं—

नारीणां व्यभिचाराच्च अन्यायाच्च महीक्षिताम्।
विप्राणां कर्मदोषाच्च प्रजानां जायते भयम्॥
अवृष्टिर्मारको रोगः सततं क्षुद्भयानि च।
विग्रहश्च सदा तस्मिन् देशे भवति दारुणः॥

अर्थात् स्त्रियोंके व्यभिचारसे, राजाओंके अन्यायसे और ब्राह्मणोंके कर्मत्यागसे प्रजाको भय होता है। वहाँ रोग, अकाल, युद्ध होते हैं।

अर्थात् श्रद्धालु, आस्तिक, सदाचारी, सात्त्विक, पुण्य-कर्मा साधु पुरुष सदा ही एक श्रेयसे दूसरे श्रेय, एक उत्सव-से दूसरे महोत्सव, एक आनन्दसे दूसरे आनन्द, सुख तथा ऐश्वर्यमें जाते रहते हैं। उनकी मनःस्थिति बड़ी संतोषयुक्त रहती है। अतः बाहर भी उन्हें सब ठीक दीखता हैं तथा वे परिस्थितियोंको भी सुधारते चलते हैं। जो देवता-अतिथि-प्रिय, मधुरभाषी, सत्समागम तथा साधुप्रिय हैं, वे परम कल्याणके मार्गपर आरूढ़ होते हैं।

निराकरणका उपाय

दुर्भिक्षके निदानमें एक प्रकारसे इसके निराकरणका उपाय भी आ ही गया है तथापि सुस्पष्ट रूपसे यह समझना है कि आस्तिकता अर्थात् भगवान्का भजन-कीर्तन-ध्यान दुर्भिक्षनिवृत्ति तथा सुभिक्षका सर्वश्रेष्ठ उपाय है। नास्तिक वेनके राज्यमें घोर दुर्भिक्ष हो गया था, किंतु पृथुने भगवद्भक्ति-प्राप्त योगशक्तिसे उसे सर्वथा दूर कर दिया—

प्रजा निरन्ने क्षितिपृष्ठ एत्य क्षुत्क्षामदेहाः पतिमभ्यवोचन् ॥

वयं राजञ्जाठरेणाभितप्ता यथाग्निना कोटरस्थेन वृक्षाः ।

(श्रीमद्भा० ४ । १७ । ९-१०)

तन्नो भवानीहतु रातवेऽन्नं क्षुधार्दितानां नरदेवदेव ।

(श्रीमद्भा० १०, ब्रह्मपुराण, महाभा० आदि)

देहि नः क्षुत्परीतानां प्रजानां जीवनौषधीः ॥

(विष्णुपुराण १ । १३ । ६८)

उनमें योगद्वारा पृथ्वीपरकी सारी सामग्री तथा प्रजाको भी धारण कर लेनेकी शक्ति थी—

'आत्मयोगबलेनेमा धारयिष्याम्यहं प्रजाः ।'

(श्रीमद्भा० ४ । १७ । २७)

सर्वश्री प्रह्लाद, ध्रुव, अम्बरीष, गय, प्रियव्रत, मान्धाता, जनक, युधिष्ठिर, सौभरि, भरद्वाज आदि राजा, राजर्षि तथा मुनि-महात्माओंमें ऐसी शक्ति देखी गयी थी। महर्षि सौभरिके वैभवको देखकर चक्रवर्ती सम्राट् मान्धाता चकित हो गये थे (विष्णुपुराण)। महर्षि भरद्वाजने भरतकी चित्रकूट जा रही सारी सेनाको खिलाकर इस प्रकार तृप्त किया, कि वह अयोध्या या चित्रकूट कहीं भी जाना नहीं चाहती थी। सेनाके लोग कहने लगे कि सुखसे रहें राम और सकुशल रहें भरत। हम तो न अब चित्रकूट ही जायँगे और न अयोध्या ही वापस जायँगे—

नवायोध्यां गमिष्यामो न गमिष्याम दण्डकान् ।

कुशलं भरतस्यास्तु रामस्यास्तु तथा सुखम् ॥

(वाल्मीकि० २ । ९१ । ५९)

भरद्वाजके इस प्रभावको देखकर भरतको लोकपतियोंके दिव्यलोक भी शुष्क, नीरस, तुच्छ, फीके और निस्सार जान पड़े थे—

मुनि प्रभाउ जब भरत बिलोका। सब लघु लगे लोकपति लोका॥
सुरभि फूल फल अमिअ समाना। बिमल जलासय बिबिध बिधाना॥
असन पान सुचि अमिअ अमी से। देखि लोग सकुचात जमी से॥
सुर सुरभी सुरतरु सबही कें। लखि अभिलाषु सुरेस सची कें॥

नारदपुराण २-७३, शिवपुराण कोटिरुद्रसंहिता २५ से २७ तथा देवीभागवतके १२ । ९ अध्यायोंमें एक भीषण अकालकी चर्चा है। इसमें बारह वर्षोंतक महर्षि गौतमने सभी ऋषि-मुनियोंको, साधु-संतोंको अपने दिव्य योगबल तथा गायत्री-भक्तिसे प्राप्त तपःशक्तिद्वारा अन्न प्रदान किया था—

कदाचिदथ काले तु दशपंचसमाः* विभो ।
प्राणिनां कर्मवशतो न ववर्ष शतक्रतुः ॥
अनावृष्ट्याऽतिदुर्भिक्षमभवत्क्षयकारकम् ।
गृहे गृहे शवानां तु संख्या कर्तुं न शक्यते ॥
केचिदश्वान् वराहान् वा भक्षयन्ति क्षुधार्दिताः ॥

(देवीभाग० १२ । ९ । १-३)

इस समय महर्षि गौतमने गायत्रीदेवीकी प्रार्थना की थी। (देवीभाग० १२ । ९ । १५-२१) उस समय भगवती गायत्रीने उन्हें प्रत्यक्ष दर्शन देकर एक पूर्णपात्र दिया। उसमेंसे पर्वतके तुल्य अन्नोंकी राशि-राशियाँ उत्पन्न हो जाती थीं—

नमो देवि महाविद्ये वेदमातः परात्परे ।

....

इति स्तुता जगन्माता प्रत्यक्षं दर्शनं ददौ ॥
पूर्णपात्रं ददौ तस्मै येन स्यात् सर्वपोषणम् ।

....

अन्नानां राशयस्तस्मान्निर्गताः पर्वतोपमाः ॥

---

* शिवपुराणके अनुसार यह अकाल १५ नहीं, पूरे १०० वर्षोंका था। उस समय पृथ्वीपर कहीं हरा पत्ता भी नहीं बच रहा था। उस समय महर्षि गौतमने ६ मासकी कठिन तपस्यासे वरुणदेवको प्रसन्न करके एक अक्षय जलभण्डार प्राप्त कर लिया था। आगे चलकर उसीका नाम त्र्यम्बकेश्वर—गौतमकुण्ड पड़ा। (शिवपुराण, कोटिरुद्र० २४ । १ । १५)

षड्रसा विविधा राजन् तृणानि विविधानि च ।
यद्यदिष्टमभूद्राजन् मुनेस्तस्य महात्मनः ॥
तत्सर्वं निर्गतं तस्माद् गायत्रीपूर्णपात्रतः ।
यत् किंचित् त्रिषु लोकेषु सुन्दरं वस्तु दृश्यते ॥
तत्सर्वं तत्र निष्पन्नं गायत्रीदत्तपात्रतः ।
नित्योत्सवः प्रववृते मुनेराश्रममण्डले ॥
न रोगादिभयं किञ्चिन्न च दैन्यभयं क्वचित् ।
स मुनेराश्रमो जातः समन्ताच्छतयोजनः ॥

(देवीभागवत १२ । ९ । १६--३३)*

उस समय उनका यश स्वर्गमें इन्द्रादि देवता भी गाते थे । इसी प्रकार द्रौपदीके पास एक सूर्यप्रदत्त हाँड़ी थी। उसे महाराज युधिष्ठिरने सूर्यकी आराधनासे प्राप्त किया था। जबतक द्रौपदी नहीं खाती थी, उसमेंसे अन्न निकलता रहता था और अगणित लोगोंकी उससे तृप्ति होती रहती थी। एक बार उसमें अन्न चुकनेके बाद (अर्थात् द्रौपदीके भोजन कर लेनेपर) महर्षि दुर्वासा अपने दस हजार शिष्योंके साथ भोजन करनेके लिये युधिष्ठिरके यहाँ पधार गये। द्रौपदीने इस संकटसे त्राण पानेके लिये भगवान्‌की पुकार लगायी और श्रीकृष्णने तुरंत उस वनमें पहुँचकर अपनी यौगिक शक्तिसे त्रिलोकीको ही तृप्त कर दिया। मुनि लोगोंको अकस्मात् अजीर्णताके उद्गार आये और वे नदीके जलमें गोते लगा-लगाकर मीलों दूर निकल भागे और वनमें विलीन हो गये—

'शाकान्नशिष्टमुपभुज्य यतस्त्रिलोकीं
तृप्ताममंस्त सलिले विनिमग्नसंघः ॥'

(श्रीमद्भा० १ । १५ । ११)

* इसी प्रकार शताक्षी तथा शाकम्भरीदेवीका वर्णन देवीपुराण, कालिकापुराण, मार्कण्डेयपुराण, देवीमाहात्म्य आदि (११ । ४१) में आता है। एक बार जब १०० वर्षका दुर्भिक्ष पड़ा तो देवीने अपने शरीरसे शाक उत्पन्न कर विश्वकी रक्षा की थी। तब उनके ये नाम पड़े थे--

ततोऽहमखिलं लोकमात्मदेहसमुद्भवैः ।
भरिष्यामि सुराः शाकैरावृष्टेः प्राणधारकैः ॥

शाकम्भरीकी स्तुति करनेसे अब भी भिक्षा, शाक, अन्न, जल, फल सर्वत्र सुलभ होता है--

शाकम्भरीं स्तुवन् ध्यायन् जपन् सम्पूजयन्नमन् ।
अक्षय्यमश्नुते शीघ्रमन्नपानामृतं फलम् ॥

(मूर्तिरहस्य १७)

इससे भगवत्प्रार्थना—नामजपका प्रभाव प्रत्यक्ष दृष्ट है। इसके अतिरिक्त भी सद्भावना तथा धर्म-प्रेमका प्रभाव होता है। दुर्भिक्षमें भिक्षा देने तथा अन्नदान करनेकी बड़ी भारी महिमा है—

द्वाविमौ पुरुषौ लोके सूर्यमण्डलभेदिनौ ।
दातान्नस्य तु दुर्भिक्षे सुभिक्षे वस्त्रहेमदः ॥

(अग्निपुराण, आह्निकतपोऽध्यायः)

क्षुधिते यः प्रयच्छेत अन्नं श्रद्धासमन्वितः ।
ब्रह्मणः भवने सोऽपि ब्रह्मणा सह मोदते ॥

(पद्मपुराण)

यों भी 'अन्नदान' को ही सभी दानोंमें श्रेष्ठ माना गया है—

'अन्नदानसमं दानं न भूतं न भविष्यति ।'

(संवर्तस्मृति ८२; वृद्धगौतमस्मृति ६ । २७, अग्निपुराण १११ । ४४, वायुपुराण ८० । ५७, देवीभाग० ९ । ३० । ३, ब्रह्मवै० प्रकृति० २९ । ३)

'नान्नदानसमं पुण्यं त्रिपु लोकेषु विद्यते ।'

(ब्रह्मपुराण ८३ । २१, आनन्दाश्रम पूना एवं मोर संस्करण)*

* 'अन्नदः पापकर्माणि पूतः स्वर्गे महीयते ।' (रघुनं० शुद्धितत्त्व)

अन्नस्य हि प्रदानेन नरो याति परां गतिम् ।
सर्वकामसमायुक्तः प्रेत्य चेहाधिकं शुभम् ॥

(ब्रह्मपुराण)

गोलोको ब्रह्मलोकश्च सर्वे चान्ने प्रतिष्ठिताः ।

(पद्मपुराण सृष्टिखं० १९ । ३९३)

यहाँ १९ । ३०६—३०९ श्लोकोंमें अन्नदानकी महिमाके श्लोकोंके सुननेकी भारी महिमा कही गयी है।

यावतो ग्रसते ग्रासान् विद्वान् विप्रः सुसंस्कृतः ।
अन्नप्रदस्य तावन्तः क्रतवः परिकीर्तिताः ॥

(विष्णुधर्मोत्तर)

'…यदन्नमुपदीयते । तत्प्रीणयति पात्राणि मां च…'।

(यमस्मृति)

अन्नानि येन दत्तानि श्रद्धापूतेन चेतसा ।
सोऽपि तृप्तिमवाप्नोति विनाप्यन्नेन वै तदा ॥

(मार्कण्डेयपु० १० । ५२)

अपि कीटपतङ्गानां शुनां चाण्डालयोनिनाम् ।
दत्त्वान्नं लोकमाप्नोति प्राजापत्यं समासतः ॥

(नन्दिपुराण)

इस तरह संख्या तथा रुपयेका महत्त्व-मोह छोड़कर अन्नकी महिमा समझनी चाहिये—

अन्ने श्रितानि भूतानि अन्नं प्राणमिति श्रुतिः ।
तस्मादन्नं प्रदातव्यमन्नं हि परमं हविः ॥
हुतेन शाम्यते पापं हुतमन्नेन शाम्यति ।
अन्नं दक्षिणया शान्तिमुपयातीति नः श्रुतिः ॥

—(बौधायनधर्मसूत्र प्रश्न २ । ३ । ६८-६९)

………अन्ने जीवः प्रतिष्ठितः ।
इन्द्रियाणि च बुद्धिश्च पुष्यन्तेऽन्नेन नित्यशः ।……… ।
तेजो बलं च रूपं च सत्त्वं वीर्यं धुतिर्मतिः ।
ज्ञानमेव तथायुश्च सर्वमन्ने प्रतिष्ठितम् ॥…
चतुर्विधानि भूतानि जङ्गमानि स्थिराणि च ।
अन्नाद्भवन्ति राजेन्द्र श्रुतिरेषा सनातनी ॥
विद्यास्थानानि सर्वाणि सर्वयज्ञाश्च पावनाः ।
अन्नाद्यस्मात्प्रवर्तन्ते तस्मादन्नं परं स्मृतम् ॥
देवा रुद्रादयः सर्वे पितरो मुनयस्तथा ।
यस्मादन्नेन तुष्यन्ति तस्मादन्नं विशिष्यते ॥
गोसहस्रप्रदानेन यत्पुण्यं समुदाहृतम् ।
अध्वश्रान्ताय विप्राय क्षुधितायान्नकांक्षिणे ।
देशकालमियाताय दीयते पाण्डुनन्दन ।

—इत्यादि (वृद्धगौतमस्मृति ६ । १६ से ४५ तक)

दशानडुत्समं यानं दशयानसमो हयः ।
हयदानसहस्रेभ्यो गजदानं विशिष्यते ॥
गजदानसहस्राणां स्वर्णदानं च तत्समम् ।
स्वर्णदानसहस्राणां विद्यादानं च तत्समम् ॥
विद्यादानात्कोटिगुणं भूमिदानं विशिष्यते ।
भूमिदानसहस्रेण गोप्रदानं विशिष्यते ॥
गोप्रदानसहस्रेभ्यो ह्यन्नदानं विशिष्यते ।
अन्नाधारमिदं प्रोक्तं तस्माद्देयं तु कार्तिके ॥

(स्कन्दपुराण, वैष्णवखं०, कार्तिकमा० २ । १२–१६)

हस्त्यश्वरथदानानि दासीदासगृहाणि च ।
अन्नदानस्य सर्वाणि कलां नार्हन्ति षोडशीम् ॥

(अग्निपुराण २११ । ४५)

अन्नदानं च विप्राय यः करोति तु भारते ।
अन्नप्रमाणवर्षं स शिवलोके महीयते ॥

(देवीभा० ९ । ३० । २, ब्रह्मवै० प्रकृ० २९ । २)

न पृच्छेद् गोत्रचरणं स्वाध्यायं देशमेव च ।
भिक्षितो ब्राह्मणेनेह दद्यादन्नं च यत्नतः ॥

'योऽन्नं ब्रह्मेत्युपास्ते' (छान्दोग्य० ७ । ९ । २)

—इत्यादिमें अन्नको साक्षात् परमेश्वर माना गया है। यह ध्यान देनेकी बात है कि धन-निन्दाके प्रकरण शास्त्रोंमें बिखरे पड़े हैं। इनका संक्षिप्त संग्रह इसी वर्षके 'कल्याण'के तीसरे अङ्कमें देखा जा सकता है। किंतु अन्नकी निन्दाको पाप माना गया है और उसकी कहीं भी आलोचना नहीं है। अन्नकी प्रशंसामें प्रायः प्रत्येक पुराण, स्मृति, निबन्धोंमें प्रकरण-के-प्रकरण, अध्याय-के-अध्याय भरे पड़े हैं। यहाँकी टिप्पणीमें उनमेंसे थोड़े-से चुने हुए सारभूत वचनोंको दिया गया है। बल्लालसेनके दानसागर, हेमाद्रिके दानखण्ड, वीरमित्रोदय, अपरार्क, अनुशा० दानधर्म, भविष्यपुराणके दानप्रकरण आदिमें इसकी बड़ी श्रद्धासे प्रशंसा की गयी और महत्त्व दिखलाया गया है। ऐसा अनुमान होता है कि भारतके इतिहासकी विशाल काल-परम्परामें कभी इस प्रकारका भौतिकवादी अर्थप्रधान युग भी अवश्य आया होगा, जब लोग ईश्वर, धर्म, सदाचार, सौजन्य, गौ-ब्राह्मण, गव्य-अन्नादिकी प्रतिष्ठा न कर केवल अर्थ, कामासक्त, यन्त्रपरायण हो गये होंगे।* अनुमानतः राजा वेन, हिरण्यकशिपु आदिका युग इसी प्रकारका दीखता है।†

अन्नदानं हि शूद्रे च ब्राह्मणे च विशिष्यते ।
अपि श्वपाके शुनि वा न तद्दानं प्रणश्यति ॥
आशंसन्ते हि पितरः सुवृष्टिमिव कर्षकाः ।
अस्माकमपि पुत्रो वा पौत्रो वान्नं प्रदास्यति ॥
…अन्नं भुवं दिवं खं च सर्वमन्ने प्रतिष्ठितम् ।
…अन्नप्रणाशे भिद्यन्ते शरीरे पञ्चधातवः ॥
आवाहाश्च विवाहाश्च यज्ञाश्चान्नमृते तथा ।
प्राणान् ददाति भूतानां यो दद्यादन्नमर्थिने ॥

(महाभा० अनुशा० ६३ वाँ अध्याय)

इन सभी श्लोकोंका प्रायः एक ही भाव है। इनमें अन्नदानसे श्रेष्ठ लोक प्राप्त होने, सभी देवताओंके प्रसन्न होनेकी बात है। अन्नदान बिना गोत्र-चरण पूछे मनुष्य क्या कुत्ते आदि जानवरोंको भी दे तो श्रेष्ठ फल होता है। पितृगण अन्नदानकी प्रतीक्षा करते हैं। अन्नदाता—प्राणदाता ही है।

* सर्वाकरेष्वधिकारो महायंत्रप्रवर्तनम् ।

(मनु० ११ । ६३)

अर्थात् सभी खानों आदिका राष्ट्रीयकरण, कारखानों—महायंत्रोंका निर्माण आदि उपपातक है।

† (क) न यष्टव्यं न दातव्यं न होतव्यं द्विजाः क्वचित् ।
इति न्यवारयद्धर्मं भेरीघोषेण सर्वशः ॥

(श्रीमद्भा० ४ । १४ । ६)

फिर तत्काल प्रह्लाद-पृथु आदिके राज्यकालमें इसके कुफलको देखकर ईश्वर, धर्म, सौजन्य, सदाचार, अन्न, गौ, संत आदिकी महत्ता आँकी गयी। इसका आधार वर्णधर्म है। वर्णधर्म नियमित न कर उसे तोड़कर सर्वत्र दुर्बलतोत्पादक शिक्षा तथा नौकरीका प्रचार करना भी एक प्रकारसे महर्घता तथा दुर्भिक्षको निमन्त्रण देना है। इसीलिये भारतमें कृषिपर अधिक जोर दिया गया और 'वर्ण-धर्म-रक्षण' को ही राजाका प्रधान कर्तव्य माना गया।* इस सम्बन्धमें यह भी एक प्रबल समर्थक प्रमाण प्राप्त होता है कि सभी धर्मशास्त्रोंमें आपद्धर्ममें 'कृषि'को सबके लिये निरापद तथा निर्दोष मान लिया गया है।

जो हो, प्राचीन भारतीय समाज-व्यवस्थाके आधारभूत धर्मशास्त्र तथा निबन्ध-ग्रन्थ बहुत ही सोच-समझकर बनाये गये हैं। वे आध्यात्मिक भी हैं। अतः उनकी अवहेलनासे लोक-कल्याण सम्भव नहीं दीखता। अतः इस समय सभीको उधर सावधानीसे ध्यान देना चाहिये।

भगवन्नाम-जप तथा प्रार्थनाको तो सभी धर्म—मजहब श्रेयस्कर मानते हैं। अतः उनका आश्रय लेनेमें तो कोई विचार ही नहीं करना है। भगवान्की शक्ति बड़ी अद्भुत है। उनके स्मरणसे बहुत बड़ा परिवर्तन हो जाता है। यह सब क्यों और कैसे हो जाता है, यह भी एक आश्चर्यमय रहस्यकी ही बात है, पर है सर्वथा सत्य। अतः इसे तो सभीको अविलम्ब प्रारम्भ कर ही देना चाहिये।

संस्कार और संस्कृति

(लेखक—श्रीअगरचंदजी नाहटा)

आजकल 'संस्कृति' शब्दका प्रचार बहुत अधिक हो रहा है एवं दिनों-दिन बढ़ता ही जा रहा है। संस्कृति किसे कहते हैं, इस सम्बन्धमें भी अनेक विद्वानोंने अपने विचार प्रकट किये हैं। संस्कृत साहित्यमें 'संस्कृति' शब्दका प्रयोग नहीं मिलता, इसलिये यह शब्द प्राचीन नहीं है। अंग्रेजी 'कल्चर' शब्दके समानार्थक शब्दके रूपमें संस्कृति शब्दका व्यवहार होने लगा है। संस्कृतिके भावको व्यक्त करनेवाला भारतीय ग्रन्थोंमें कौन-सा शब्द प्रयुक्त है ? इसके सम्बन्धमें भी कई विद्वानोंने अपने विचार प्रकट किये हैं। कुछ विद्वानोंकी रायमें 'संस्कृति' शब्द जितना व्यापक है उतना व्यापक शब्द प्राचीनकालमें केवल 'धर्म' ही था। भावोंकी दृष्टिसे चाहे यह बात ठीक हो, पर संस्कृति शब्दपर हम गहराईसे विचार करते हैं तो संस्कृत साहित्यमें उनके निकटवर्ती शब्द संस्कार और संस्कृतको ही पाते हैं। संस्कारोंका भारतीय जीवनमें बड़ा महत्त्व है। इसलिये मेरी रायमें संस्कृति शब्दसे सबसे निकटवर्ती सम्बन्ध संस्कारका ही माना जाना चाहिये। संस्कृत और हिंदीके कोष-ग्रन्थोंमें 'संस्कार' शब्दके कई अर्थ दिये हैं—शुद्धि, परिष्कार, सुधार, मन, रुचि, आचार-विचारको परिष्कृत तथा उन्नत करनेके कार्य, मनोवृत्ति या स्वभावका शोधन, पूर्व-जन्मकी वासना या पूर्व-जन्म, कुल-मर्यादा, शिक्षा-सभ्यता आदिका मनपर पड़नेवाला प्रभाव। वैसे 'संस्कृत' शब्दका अर्थ भी संस्कार शब्दसे मिलता-जुलता है। कोष-ग्रन्थोंमें इसका अर्थ शुद्ध किया हुआ, परिमार्जित, परिष्कृत, सुधारा हुआ, ठीक किया हुआ, सँवारा हुआ आदि किया गया है। इन अर्थोंपर विचार करनेसे ऐसा लगता है कि मनुष्यमें जो दोष हैं, उनका शोधन करनेके लिये और उन्हें सुसंस्कृत करनेके लिये ही संस्कारोंका विधान किया गया है। इसलिये सुसंस्कार मानव-जीवनके उत्थानके लिये बहुत ही आवश्यक और महत्त्वपूर्ण है।

संस्कारकी प्रारम्भिक भूमिकापर विचार करनेसे मालूम होता है कि उसका प्रारम्भ अभ्याससे होता है। बहुत बारके अभ्यासके बाद हम किसी भी कार्य करनेके आदी हो जाते हैं। तब उसे अभ्याससे आदत कहा जाता है। आदतके

(ख) अयं द्विजैर्हि विद्वद्भिः पशुधर्मो विगर्हितः। मनुष्याणामपि प्रोक्तो वेने राज्यं प्रशासति॥
स महीमेखिलां भुञ्जन् राजर्षिप्रवरः पुरा। वर्णानां संकरं चक्रे कामोपहतचेतनः॥
(मनु० ९। ६६-६७)

अर्थात्—राजा वेनने भेरी-घोषसे यज्ञ, दान, हवन रोक दिये थे। विधवा-विवाहादि भी चलाकर वर्णसंकरकी सृष्टि कर डाली थी।

* द्रष्टव्य—गौतमधर्मसूत्र २। १। १४, रघुवंश १४। ४०, मार्कण्डेयपुराण २४। आदि

बाद जब वह प्रवृत्ति हमारे जीवनके साथ ओतप्रोत हो जाती है तब उसे 'संस्कार'की संज्ञा मिलती है और संस्कारके बाद जब वह कार्य सहज प्रवृत्तिमें परिणत हो जाता है तब उसे 'स्वभाव' कहते हैं ।

'संस्कार' डालना पड़ता है; क्योंकि दोषोंका शोधन प्रयत्नपूर्वक ही होता है; पर 'स्वभाव' व्यक्तिकी सहज क्रिया है और उससे छूटना बहुत ही कठिन होता है । इसीलिये हम कहते हैं कि क्या करें ? हमारा तो स्वभाव ही ऐसा पड़ गया है कि इसे बदल नहीं सकते । आदत भी डाली जाती है और उसका छूटना भी कठिन होता है, पर स्वभाव-जितना नहीं । आदत बुरी और अच्छी दोनों प्रकारकी होती है । यद्यपि आगे चलकर संस्कारको भी अच्छा और बुरा मानते हुए कुसंस्कार और सुसंस्कार शब्द प्रचलित हो गये । पर जब हम संस्कार शब्दकी मूलप्रकृतिपर विचार करते हैं तो लगता है कि उसके साथ 'कु' और 'सु' लगानेकी आवश्यकता नहीं; क्योंकि उसका अर्थ ही शुद्धि और दोषोंका परिष्कार है । इसलिये कुसंस्कार कहनेकी अपेक्षा बुरा अभ्यास कहना अधिक उचित है और संस्कार शब्दका व्यवहार अच्छाईके लिये ही होना चाहिये ।

जीवनके साथ संस्कारोंका घनिष्ठ सम्बन्ध है । वर्तमान जीवनसे पहले भी इस जीवके साथ संस्कार थे, जिन्हें हम पूर्वसंस्कार या पूर्वजन्मके संस्कार कहते हैं । और इस जीवनके समाप्त होनेके बाद भी संस्कारोंकी परम्परा अगले जन्म-जन्मान्तरोंतक चलेगी । एक व्यक्तिका संस्कार केवल उसीके जीवनसे ही सम्बन्धित नहीं है, पर उसके कुटुम्ब या कुलपर भी उसके संस्कारोंका प्रभाव पड़ता है, जिसे हम कुल-परम्परा या कुल-संस्कार कहते हैं । इस तरह हम देखते हैं कि संस्कारकी परम्परा एवं उसका प्रभाव बहुत ही व्यापक है और गहरा भी ।

प्राणियोंका जीवन दोषों और गुणोंसे मिला-जुला चेतन प्रवाह है, इसलिये दोषोंका परिहार और गुणोंका विकास करना अत्यावश्यक है । यद्यपि सम्पूर्ण दोषोंसे रहित होना तो बहुत ही कठिन है और प्रयत्न करनेपर बहुतसे दोष दूर किये जा सकते हैं । इसी प्रकार सम्पूर्ण गुणोंसे सम्पन्न होना भी अत्यन्त कठिन है । पर प्रयत्न करनेसे गुणोंका अधिकाधिक विकास किया जा सकता है और संस्कारोंका उद्देश्य एवं कार्य भी यही है । जहाँ दोषोंकी अधिकता होगी, वहाँ गुणोंका विकास बहुत ही कम और कठिनाईसे होगा और गुणोंके समुचित विकासके बाद बहुतसे दोष तो अपने-आप मिट जायँगे । जो थोड़ेसे बच जायँगे, उनका प्रभाव भी मंद पड़ जायगा अर्थात् वे दबे हुए-से रहेंगे ।

प्रयत्नपूर्वक दोषोंका परिष्कार या परिहार करनेकी सम्भावना सबसे अधिक मनुष्यजीवनमें ही है; क्योंकि दोषों और गुणोंका विवेचन जितना गहराईके साथ मनुष्य कर सकते हैं, पशु-पक्षी आदि अन्य प्राणी नहीं कर सकते । हम विचारोंसे ही बनते हैं और बिगड़ते हैं; इसलिये विचारोंकी शुद्धि या चित्तशुद्धिकी बहुत आवश्यकता है और सारे धार्मिक अनुष्ठान चित्तशुद्धिके लिये ही किये जाते हैं ।

संस्कारोंका सबसे अधिक महत्त्व चित्तशुद्धिमें है । मनकी मलिनता ही सबसे अधिक दुःखदायी है । कायाकी मलिनता तो पानी एवं साबुनसे दूर भी की जा सकती है; पर मन तो न जाने कहाँ-कहाँ भटकता रहता है और प्रतिपल अशुभ चिन्तनके द्वारा वह दूषित होता रहता है । इन्द्रियोंका प्रेरक भी वही है, इसलिये उसीकी शुद्धिका निरन्तर ध्यान एवं प्रयत्न करना चाहिये । योगसूत्रमें 'चित्तवृत्तिनिरोध' को 'योग' कहा गया है, पर निरोध करना सहज कार्य नहीं है; इसलिये पहले चित्तको अशुभसे हटाकर शुभ प्रवृत्तियोंमें लगाना उचित है; क्योंकि चित्तको कुछ-न-कुछ अवलम्बन तो चाहिये ही । यदि उच्च आदर्श एवं ध्येयमें हम लगे रहेंगे तो बुरी आदतोंकी ओर हमारा ध्यान ही नहीं जायगा । और यदि कभी गया भी तो बुरा करनेके लिये समय ही न मिलेगा । गीतामें कहा है—जहाँतक जीवन है कुछ-न-कुछ प्रवृत्ति तो करनी ही पड़ेगी, पर आसक्तिका त्याग कर दें तो विष निकल जानेसे हमें नुकसान नहीं पहुँच सकेगा । आत्म-निरीक्षण प्रतिपल नहीं तो, प्रतिदिन तो करना जरूरी है ही । उसके द्वारा जो दोष हमारेमें हों उनका निवारण कर एवं जिन गुणोंकी कमी है, उनकी पूर्ति करते जायँ यही संस्कृति है ।

स्व० भगवानदीनजीने 'संस्कृति'का अर्थ 'माँजना' किया है । अर्थात् आत्माके दोषोंका परिमार्जन, परिष्कृति एवं गुणोंका विकास ही संस्कृति है । जिन कार्यों या प्रवृत्तियोंसे हमारा उत्कर्ष हो, हृदयकी शुद्धि हो, उन्हें ही संस्कृतिका कार्य कहना चाहिये, न कि वर्तमानमें कहे जानेवाले नाच-गान आदि ।

घृणाके मनोवैज्ञानिक दुष्परिणाम

(लेखक—पं० श्रीलालजीरामजी शुक्ल, एम्०ए०, बी०टी०)

आधुनिक मनोविज्ञानकी खोजोंसे पता चलता है कि हमारी किसी विशेष व्यक्ति अथवा वस्तुके प्रति घृणाका प्रमुख कारण हमारे ही अंदर रहता है। प्रायः देखा जाता है कि जो व्यक्ति जिस प्रकारके लोगोंसे घृणा करता है, वह स्वयं कुछ कालके अनन्तर उन्हीं व्यक्तियोंके घृणित गुणोंको अपना लेता है। हम जिस किसी वस्तु अथवा गुणसे घृणा करते हैं, उसकी मूल बुराइयाँ हमारे खुदके ही भीतर रहती हैं। हमारी घृणाकी मनोवृत्ति इन बुराइयोंका आरोपण मात्र होती है। इस प्रकार अपनी बुराइयोंका दूसरोंपर आरोपण करके हम स्वयं अपने-आपमें इनकी उपस्थितिकी आत्मस्वीकृतिसे बचना चाहते हैं। हमारा अचेतन मन बहुत स्वाभिमानी है। वह किसी भी कमजोरीको जल्दी स्वीकार नहीं करता। इसी आत्मस्वीकृतिकी प्रवञ्चनासे मुक्ति पानेके लिये वह अपनी बुराइयोंका घृणाकी भावनाके रूपमें दूसरोंमें आरोपण कर देता है। अत्यधिक आलोचनाकी प्रवृत्ति स्वयंकी हीनताकी द्योतक होती है। यह एक प्रकारसे अपने आन्तरिक अवगुणोंके बाह्यीकरणका एक विशेष मार्ग है, जिसका अनुसरण हमारा आन्तरिक मन किया करता है।

घृणाकी मनोवृत्ति किसी विशेष प्रकारको हमारे मस्तिष्कमें बैठा देती है। संवेगोंके उत्तेजित होनेपर कभी-कभी यही विचार बाह्य विचारका रूप धारण कर लेते हैं और जितना ही अधिक हम उनको भूलना चाहते हैं, उतने ही वे हमारे मनको जकड़ते जाते हैं और अन्तमें मानसिक रोगका रूप धारण कर लेते हैं। हमारा मन अचेतनावस्थामें जिस किसी विचारको मस्तिष्कमें लाता है, वही विचार कुछ समयके पश्चात् हमारी विशेष प्रकारकी मनोवृत्तियोंमें परिणत हो कार्यरूपमें प्रदर्शित होने लगता है। मान लीजिये, कोई आदमी एक कोढ़ीको देखता है और उससे उसके हृदयपर गहरा प्रभाव पड़ता है तो वह उसीके सम्बन्धमें विचार करने लगेगा। ये विचार धीरे-धीरे दृढ़तर होते जाते हैं और इनपर ध्यान केन्द्रित करनेकी इच्छा न रखते हुए भी वह व्यक्ति इनका आना रोकनेमें अपने आपको असमर्थ पाता है और यही स्थिति काफी दिनोंतक रही तो इस बीमारीके चिह्न उसमें भी प्रकट होने लगते हैं और अन्तमें वह भी कोढ़ी बन जाता है। अतएव जब हम किसी ऐसे व्यक्तिको देखें, जिसके कारण हमारे मनमें घृणाकी भावनाका उदय हो तो तुरंत ही हमें उसके प्रति सहानुभूतिकी भावना लानी चाहिये। इससे घृणाकी भावना और तत्सम्बन्धी बाह्य विचारोंसे हम बहुत कुछ अंशमें मुक्ति पानेमें सफल हो सकेंगे। हमको बहुत-सी मानसिक और शारीरिक बीमारियाँ केवल इसी कारण होती हैं कि हम उनसे स्वभावतः घृणा करते हैं या उनसे डरते हैं। अगर कोई व्यक्ति किसी कुरूप व्यक्तिको सदा घृणाकी दृष्टिसे देखता है तो वह प्रत्यक्षमें तो उससे बचनेकी चेष्टा करता है, किंतु कभी-कभी जब घृणाकी भावना बलवती होती है तो वह स्वप्नमें ही उस व्यक्तिको देखने लगता है और अन्तमें स्वयं ही कुरूप बन जाता है। यह सब इसलिये होता है कि घृणाका भाव एक प्रकारके आत्मनिर्देशमें बदल जाता है और इस आत्मनिर्देशसे प्रभावित हो हम घृणित गुणोंको अपने-आपमें ही चरितार्थ करने लगते हैं।

यदि हम चाहें तो दूसरे लोगोंकी कमियोंको निर्लिप्त भावसे देख सकते हैं। इससे हमारे मनपर कोई भी बुरा प्रभाव नहीं पड़ने पाता। किंतु जैसे ही हम किसीके दुर्गुणोंपर संवेगात्मकरूपसे विचार करने लग जाते हैं तो हमारे विचार अपना बुरा प्रभाव हमारे मनपर डालना प्रारम्भ कर देते हैं। साधारणतया किसी व्यक्तिके दुर्गुणोंके सम्बन्धमें बार-बार सोचनेसे हमारे विचार संवेगात्मक रूप धारण कर लेते हैं। अतएव इस प्रकारके विचार सदैव हानिकारक होते हैं। इसी सिद्धान्तको ध्यानमें रखते हुए संसारके सभी महापुरुषोंने अपराधीको क्षमा करनेका उपदेश दिया है। अपराधीको क्षमा करके हम अपनी घृणाकी भावनाको सहानुभूतिके द्वारा नष्ट कर देते हैं।

घृणाकी मनोवृत्तिका मूल कारण हमारे मनमें स्थित कोई ग्रन्थि होती है। हमें इस ग्रन्थिको पहचानकर सुलझानेकी कोशिश करनी चाहिये। ग्रन्थिको सुलझाते ही हमारी घृणाकी मनोवृत्ति भी अपने-आप नष्ट हो जायगी। साधारणतः हम अपनी बुराइयोंको स्वीकार करना नहीं चाहते। किंतु आध्यात्मिक नियमके अनुसार हमें एक-न-एक दिन अपनी बुराइयोंको स्वीकार करनेके लिये बाध्य होना पड़ता है। हमारी

प्रकृति धीरे-धीरे हमें आत्मस्वीकृतिकी ओर ले जाना आरम्भ करती है। पहले हम अपने इन दुर्गुणोंको दूसरोंमें देखने लगते हैं और फिर इन्हींपर विचार करते-करते स्वयं इनके शिकार बन जाते हैं। वास्तवमें ये दुर्गुण कहीं बाहरसे नहीं आते। ये तो पहलेसे ही हमारे भीतर मौजूद रहते हैं। हम उनकी उपस्थिति स्वीकार नहीं करते, अतएव प्रकृति टेढ़े-मेढ़े रास्तेसे उनकी आत्मस्वीकृति कराती है। अगर प्रारम्भमें ही हम इन दुर्गुणोंको मान लें तो उनसे छुटकारा पा जायँ। किंतु जब प्रकृति जबरदस्ती उन्हें स्वीकार कराती है तो वे हमें जकड़ लेते हैं। फिर उनसे छुटकारा पाना इतना सरल नहीं होता।

हमारे विचारोंका दूसरोंपर उसी समय प्रभाव पड़ता है, जब कि उसकी मानसिक स्थिति उन विचारोंको ग्रहण करनेके योग्य होती है। यही बात हमारे स्वयंके विचारोंके सम्बन्धमें भी सत्य है। हमारे मनमें अच्छे-बुरे जैसे भी विचार उठते हैं, सबकी पृष्ठभूमि हमारे ही अंदर होती है। किसी व्यक्तिके सम्बन्धमें बुरे विचारोंका कारण भी हमारे ही मनमें होता है। वास्तवमें अज्ञातरूपसे वे दुर्गुण हममें उपस्थित रहते हैं। किंतु प्रकाशनका उचित मार्ग न पा वे दब-से जाते हैं और समय पाकर दूसरोंकी नुक्ताचीनीकी आदतमें वे फूट पड़ते हैं। यही हाल हमारे दूसरोंके प्रति श्रद्धाके भावका भी है। वास्तवमें हमारे मनमें ही उस श्रद्धाके योग्य गुणोंकी पृष्ठभूमि रहती है। हमारा मन भी उन्हीं सद्गुणोंको ग्रहण करनेकी योग्यता रखता है, इसलिये वह इन गुणोंका सम्मान करनेको हमें प्रेरित करता है। उदार-चित्त मनुष्यके विचार सदा उदार रहते हैं। इस प्रकारके मनुष्य दूसरोंमें सदा भलाई ही देखा करते हैं। उनकी दृष्टि किसी भी बुराईपर जल्दी नहीं पड़ती।

हमारे मनपर दूसरोंके विचारोंका गहरा प्रभाव पड़ता है। दूसरे हमारे बारेमें जैसा सोचते हैं, वैसा ही हमारा चरित्र भी अज्ञातरूपसे बनता जाता है। यदि हमारे आस-पास हमसे प्रेम करनेवाले व्यक्ति होते हैं तो हममें भी प्रेमकी भावनाका उदय होता है। जब हम किसी व्यक्तिके दुर्गुणों अथवा गुणोंपर बार-बार विचार करते हैं, तो हमारे विचार उनके लिये निर्देश बन जाते हैं। उसपर इन निर्देशोंका गहरा प्रभाव पड़ता है। उस व्यक्तिमें धीरे-धीरे वही गुण अथवा बुराइयाँ स्थान पा लेती हैं। इस प्रकार दोनों तरफसे घृणाकी भावना घातक होती है। यह एक तरफ घृणा करनेवाले व्यक्तिके मन और विचारोंको बर्बाद करती है और दूसरी ओर घृणित व्यक्तियोंमें उन बुराइयोंको और भी दृढ़ कर देती है। यदि हमारी घृणा काल्पनिक हुई तो भी उस व्यक्तिमें कुछ दिनोंके बाद बुराइयाँ आ ही जाती हैं।

मन जीता—जग जीता

(लेखक—श्रीहरिकृष्णदास गुप्त हरि)

दुनिया दासोंकी बस्ती है। जगत्‌में जिधर देखो, उधर ही गुलाम-ही-गुलाम भरे पड़े हैं।

ले-देकर यहाँ सबका स्वामी······सबका राजा एक है। वह है और कोई नहीं, एकमात्र मन······प्रत्येकके लिये प्रत्येकका अपना मन।

अतः हारी-बाजी जीतनी है, दासताके चंगुलसे छूटना है, गुलामीकी जंजीरें काटनी हैं तो मनको जीतना होगा।

मन जीत लिया, तो जग जीत लिया। करनेका सब कुछ कर लिया। राजाओंके राजा हो गये।

परंतु मनको जीता कैसे जाय ?

आत्म-निरीक्षण, स्वयं-परीक्षण और संयम-साधनाके द्वारा अपना; और त्याग, प्रेम एवं सेवाकी आराधनाके द्वारा अन्य सबका······सतत-सदैव, एकनिष्ठ एवं सक्रिय आराधनाके द्वारा।

इतना करते ही—मनके जीतते ही वह लहर-बहर होगी कि जिसका नाम; वहाँ पहुँच जायँगे आप जिसे कहते हैं परमधाम······करना चाहना भूल, सहज होकर अकर्त्ता, आप्तकाम।

कहिये, और चाहिये ही क्या ?

सहानुभूति

(लेखक—श्रीअनन्तविहारीजी 'मृदुल')

सहानुभूतिके सम्बन्धमें ह्विटमैनने कहा है—'मैं किसी घायल व्यक्तिसे यह नहीं पूछता कि तुम्हें कैसा अनुभव हो रहा है, बल्कि मैं तो स्वयं घायल बन जाता हूँ।' बात कुछ ऐसी है भी। सहानुभूतिका यही तो सच्चा रूप है। सच ही किसी दुखी प्राणीसे उसकी पीड़ा और कष्टके बारेमें पूछ-ताछ करना एक तरहकी निर्दयता है। सच्ची सहानुभूति तो तब कही जायगी, जब दूसरोंके दुःखको देखकर किसीका हृदय पिघल जाय और वह हर तरहसे सहायता करनेको तैयार हो उठे।

यदि कोई व्यक्ति अपने घरमें जोर-जुल्म करता है—पत्नीको डाँट-फटकार बताता रहता है, बच्चोंको मारता-पीटता है या नौकरको गालियाँ देता है अथवा अपने पड़ोसीको कटु आलोचनाद्वारा चोट पहुँचाता है, तो फिर बाहरके लोगोंके प्रति इस झूठी भावुकता दिखानेको सहानुभूति कैसे माना जायगा और अपने चारों ओरकी दुनियाँके अन्याय और पाषाण-हृदयताके विरुद्ध उसके घृणायुक्त एवं उथले भाव-प्रदर्शनमें क्या सार्थकता होगी? ऐसे लोगोंको इमर्सनने कहा है—'जाओ, अपने बच्चोंसे प्रेम करो, अपने लकड़हारेसे प्रेम करो, अपने स्वभावको मधुर और विनम्र बनाओ, मनकी गरिमाको प्राप्त करो एवं अपनी अनुदार महत्त्वाकाङ्क्षाको हजारों मीलकी दूरीपर स्थित काले लोगोंके लिये अविश्वसनीय कोमलताके रूपमें प्रकट मत करो। दूरके लोगोंके प्रति तुम्हारा प्रेम घरके प्रेमपर व्याघात है।' मनुष्यके वर्तमान कार्य ही उसकी सचाईकी कसौटी बनते हैं, न कि उसकी निरर्थक भावुकता। उसके कर्ममें यदि स्वार्थपरता और कटुता है तथा यदि घरके लोग उसके आगमनसे भयभीत होते हैं, उसके प्रस्थानसे प्रसन्न होते हैं, तो फिर दीन-दुखियों और पददलितोंके प्रति थोथी सहानुभूति प्रकट करनेमें क्या सार्थकता है?

एक बात और। सहानुभूतिका वृत्त सीमित एवं संकुचित नहीं होना चाहिये। जीवमात्रके प्रति सहानुभूति होनी चाहिये। हमें यह न सोचना चाहिये कि पुरुष और स्त्री-समाज ही नहीं, बल्कि पशु-पक्षी आदि भी सहानुभूतिके सुयोग्य पात्र हैं। अंग्रेजीके एक रोमांटिक कवि शेलीजने अपनी एक कवितामें पशुओं और पक्षियोंको भी सहानुभूतिकी परिधिमें लानेकी शिक्षा दी है।

जब सहानुभूति दर्शानेवालेकी दिव्य दृष्टिमें जड-चेतन, स्त्री-पुरुष, ऊँच-नीच, अशक्त-बलवान् आदिका भेद-भाव तिरोहित हो जाय, तभी सहानुभूतिको पूर्ण, निश्चल एवं सतत माना जायगा।

सहानुभूति एक गहन, मौन और अव्यक्त कोमलता है। जो हमें अपने स्वार्थोंकी ओरसे उदासीन बनाती है और हमारे चरित्रमें भद्रता उत्पन्न करती है।

सहानुभूतिसे हमारे व्यक्तित्वमें पूर्णताका भाव आता है। इसी गुणके आधारपर सहानुभूति दर्शानेवाला अपनी निजतामें अनेक आत्माओंका प्रतीक बन जाता है। दूसरेकी दृष्टिसे वह देखता है, दूसरेके कानोंसे वह सुनता है, दूसरोंके मनसे सोचता है और दूसरोंके हृदयके द्वारा ही अनुभूति प्राप्त करता है।

अपनी इसी खूबीके चलते वह अपनेसे भिन्न लोगोंके मनोभावोंको समझ सकता है। दूसरोंके जीवनका अर्थ उसके आगे स्पष्ट हो जाता है तथा दूसरोंके साथ वह एकाकारिताका भाव अनुभव करता है। बालजकका कहना है—'गरीबोंके प्रति मैं खिंचता हूँ। उनकी भूख मेरी भूख है, मैं उनके साथ रहता हूँ, उनकी वञ्चनाओंकी पीड़ा मैं सहता हूँ, एक भिखारीके फटे-चिथड़ोंका स्पर्श मैं अपने शरीरपर कर सकता हूँ, उतने समयके लिये मैं एक गरीब और ठुकराया हुआ प्राणी बन जाता हूँ।' दूसरे किसी औरने कहा है—'दीन-दुखियोंके लिये किया गया कर्म उस परम सत्ताकी उपासनामें किया गया कर्म होता है।'

इस तरह सहानुभूति हमें दूसरोंके हृदयोंतक पहुँचाती है। इस तरह हम उनसे एकात्मभावका अनुभव करते हैं और यदि पीड़ा उन्हें होती है तो वेदना हमें महसूस होती है, उन्हें खुशी होती है तो उसका उन्मेष हमारे अन्तरमें होता है। जब उन्हें धिक्कार और यातनाएँ दी जाती हैं, तो हम भी उनके साथ अपमान और यातना सहते हैं। जिसके अन्तरमें सहानुभूतिका यह एकात्मकारी तत्त्व है, वह कभी दूसरोंकी भर्त्सना नहीं कर सकता और अपने सहवर्ती जनोंके प्रति विचारशून्य और हृदयशून्य घोषणाएँ नहीं कर सकता; क्योंकि अपने कोमल हृदयके कारण वह उनकी पीड़ासे तादात्म्य-भावका अनुभव करता है।

इसके विपरीत सहानुभूतिके अभावसे अभिमान पैदा होता है। सच्ची सहानुभूति प्रेमके रूपमें प्रकट होती है। अभिमानकी जड़में अज्ञान है। अभिमान उन्हीं लोगोंके मनमें

पनपता है जो यह सोचते हैं कि उनका अस्तित्व दूसरोंसे अलग है और उनका लक्ष्य भी दूसरोंसे अलग है एवं केवल उन्हींका रास्ता सही है, दूसरोंका नहीं। सहानुभूति मनुष्यको भिन्न और आत्मकेन्द्रित जीवनसे ऊँचा उठाती है और लोगोंके हृदयमें उसके लिये जगह बनाती है। तभी वह दूसरोंके विचारों और अनुभूतियोंमें सम्मिलित होता है।

कवियों और दूसरे प्रकारके कलाकारोंमें तो सहानुभूति असीमित एवं अक्षय कोटिकी होती है। इसके अभावमें कविता-कामिनीको रिझाना ही असम्भव है। जितना महान् कवि या कलाकार, उतनी महान् एवं यथेष्ट उसकी सहानुभूति !

सहानुभूति एक ऐसी सार्वभौम आत्मिक भाषा है, जिसे सभी लोग यहाँतक कि पशु भी नैसर्गिक रूपसे समझते और पसंद करते हैं।

सहानुभूति सफलताके मार्गमें कभी भी बाधा नहीं बन सकती। यह जितना हृदयको विशाल बनाती है, उतना ही प्रभाव-क्षेत्रको भी बढ़ाती है और इस तरह मनुष्यके आत्मिक एवं पार्थिव दोनों हितोंकी समानरूपसे साधना करती है।

सहानुभूति और उसकी अभिव्यक्ति हृदयके बंद दरवाजे खोलती है, पत्थरमेंसे भी जलके झरने बहाने लगती है।

सहानुभूति एक ऐसा पारस पत्थर है जो जिंदगीके लोहेको सोनेमें बदल देता है, मानवके सम्बन्धमें संगीतका माधुर्य और इन्द्रधनुषका सौन्दर्य भर देता है।

सच्ची सहानुभूति या प्रशंसाके शब्द निकालनेमें हमारी एक कौड़ी भी खर्च नहीं होती, पर उनका उच्चारण करते समय लगता है जैसे हमारी जायदाद ही जा रही हो या प्राण ही निकल रहे हों। कितनी सस्ती चीज है, पर कितनी दुर्लभ।

प्रसिद्ध अमरीकी विचारक इमर्सनका कथन है—'आपके मीठे, सहानुभूतिभरे शब्दोंसे आपके मित्रका सम्पूर्ण व्यक्तित्व खिल उठेगा। उसके जीवनमें एक ऐसा मधुर परिवर्तन होने लगेगा जो किसी डाक्टरके बूतेकी बात नहीं।

सहानुभूति जादू-सा भी कार्य करती है। देखते-ही-देखते पराया अपना लगने लग जाता है, कुरूप भी रूपवान् दीखने लगता है। शत्रु भी मित्र-जैसा दिखायी देता है, बुद्धिहीन भी बुद्धिमान् प्रतीत होने लगता है, निराशा आशाका रूप ले लेती है, पाप पुण्यकी संज्ञासे अभिभूत हो जाता है, कोमलता कठोरताकी जगह ले लेती है और क्रोधका आवेश शान्तिकी स्थिरतामें बदल जाता है। सहानुभूतिपूर्ण व्यक्ति किसीको भी मूलतः मूर्ख, शठ, धूर्त, चरित्रहीन, लम्पट और लोलुप नहीं समझता। वह भलीभाँति जानता है कि दोष तो उस परिस्थितिका है, जिसने किसीको चोरी या कोई बुरा काम करनेके लिये विवश किया।

सहानुभूति चरित्र-निर्माणके तत्त्वोंमेंसे एक श्रेष्ठतम तत्त्व है। अनेकतामें एकता और भेदमें अभेदका आभास जिसने पा लिया, उसकी सहानुभूति तो अपरिमित एवं दृढ़तम हो जाती है। हम दूसरोंको जबतक अपना नहीं समझते, तभी-तक सहानुभूति हमारे हृदयमें अपनी जगह नहीं बनाती और हमारी धमनियोंमें प्रवाहित नहीं होती। जब हम यह जान लेते हैं कि सागरकी लहरोंकी तरह हम सभी एक ही परम तत्त्वमेंसे निकलते हैं और उसीमें हमें विलीन हो जाना है;तब हमारे हृदयकी सोयी सहानुभूति द्रवित एवं आन्दोलित होने लगती है।

दैनिक जीवनके साधारण कार्य-व्यापारमें भी सहानुभूति एक आवश्यक तत्त्व है। लोग बहुधा सत्य और नेति-नेति कहनेवालोंके बदले मृदुभाषी और दयालु लोगोंसे ही सम्पर्क रखना चाहते हैं।

प्रत्येक क्षेत्रमें जहाँ व्यक्तिगत सम्पर्कको महत्त्व दिया जाता है, वहाँ अधिक योग्य किंतु सहानुभूतिहीन लोगोंकी जगह कम योग्य किंतु अधिक सहानुभूतिपूर्ण लोगोंको ही अधिक सफल होते देखा गया है।

यह सहानुभूतिका ही चमत्कार है कि प्रत्येक व्यक्ति इसे प्राप्त करना चाहता है। बच्चा चोट लगने या कट जानेपर सहानुभूति पानेके लिये बड़े चावसे उसका प्रदर्शन करता है और कभी-कभी तो इसके लिये स्वयं भी ऐसा घाव बना लेता है। जवान और प्रौढ़ लोग भी इसी भावनासे प्रेरित होकर अपनी घटनाओं, बीमारियों, नश्तर आदिके ब्योरोंका वर्णन किया करते हैं। वास्तविक या कल्पित दुःखोंके लिये अपनी गरीबी प्रकट करनेकी बात मनुष्यमात्रमें पायी जाती है।

तो ऐसी हालतमें हम भी क्यों न सहानुभूतिपूर्ण मानव बनें ?

संगठन

[कहानी]

(लेखक—श्री 'चक्र')

अपने देशके जो सैनिक पिछले दिनों कांगोसे लौटे, उनमेंसे एकसे मिलनेका अवसर मुझे मिला है। एक यात्रामें रेलकी दूसरी श्रेणीके डिब्बेमें हम दोनों बैठे थे। मेरा स्वभाव परिचय पूछनेका नहीं है। मैंने पूछा नहीं; किंतु मेरे बिना पूछे उस सैनिकने जो कुछ बताया, उतना मुझे ज्ञात है। उसका नाम तथा पता भी उसने बताया था। वह सब मैं भूल गया। बातोंके चलते उसने कुछ कागज मुझे दिखाये। उन कागजोंमें कुछ ऐसी बातें थीं कि मेरी रुचि हो गयी उनमें और अपने सहयात्रीकी अनुमतिसे मैंने कागजोंकी प्रतिलिपि कर ली।

उस सैनिकका कहना था कि कांगोके अपने काम-में उसे एक बार उस देशके मध्यभागमें जाना पड़ा था। वहाँ एक छोटा-सा पक्का बंगला उसे ठहरनेको दिया गया। उस घोर वन्यप्रदेशमें वह अकेला पक्का मकान था, जो भारतीय टुकड़ीका कई दिन सैनिक शिविर बना रहा। उस बंगलेकी दशा ऐसी थी, जैसे उसमें वर्षोंसे कोई रहा न हो। भारतीय सैनिकोंने ही उसे स्वच्छ किया। इस सफाईमें एक डायरी मिली। डायरी फ्रेंचमें लिखी गयी थी। उसमें बीचमें बहुत-से पृष्ठ कोरे थे।

उस डायरीको वहाँसे लौटनेके पश्चात् सैनिकने एक संयुक्त राष्ट्रसंघके कर्मचारीको दिखाया। डायरीको उन्होंने रख लिया; किंतु सैनिकके अनुरोधपर डायरीका अंग्रेजी अनुवाद करके उन्होंने उसे दे दिया। मुझे जो कागज देखनेको मिले, वे उस अंग्रेजी अनुवादका हिंदी भाषान्तर था। इसमें हिंदी करनेवालेने कहीं-कहीं अपनी टिप्पणी भी सम्मिलित कर दी है। मैं उसीको यहाँ उद्धृत कर रहा हूँ; क्योंकि मुझे देश तथा समाजके लिये इस डायरी-लेखककी बातें उद्बोधक लगती हैं। डायरी पहली अप्रैलसे प्रारम्भ होती है।

१ अप्रैल—आज यहाँ मूर्खता-दिवस मनाया जा रहा है। कोई मुझे भी मूर्ख बना सकता है; किंतु मैं तो स्वयं मूर्ख बन गया हूँ। वैसे इंग्लैंडके लोग सभ्य हैं। एक विदेशीके साथ बड़ा विनम्र व्यवहार करते हैं। पराजित फ्रांसके नागरिक होनेके नाते मेरे साथ प्रायः सभी सहानुभूति प्रदर्शित करते हैं। पराजित फ्रांस—हृदय जैसे सोचते ही टुकड़े-टुकड़े हो जाता है। हमारी मेगनो लाइन कागजकी किलेबंदी सिद्ध हुई। हिटलरके एक धक्केने—लेकिन हिटलरने उसे धक्का कहाँ दिया, उसे तो स्वदेशके पञ्चमांगियोंने परास्त किया। आपसकी फूट, दलबंदी, सत्ता हथिया लेनेका लोभ और स्वार्थीजनोंका विश्वासघात फ्रांसको ले डूबा। लेकिन फ्रांस अजेय है। फ्रांस विजयी होगा अन्तमें, फ्रांस अमर रहे।

२ अप्रैल—थोड़ी अंग्रेजी जानना मेरे बहुत लाभका सिद्ध हुआ। अच्छा ही हुआ कि जब जर्मन-सेनाएँ फ्रांसमें प्रवेश कर रही थीं, मैं यहाँ निकल आया। स्पेन होकर न आता तो क्या जर्मन खूँखार कुत्तोंसे बच पाता। लेकिन यहाँ बैठे रहना व्यर्थ है। आह! सिर बहुत दर्द कर रहा है। भागते समय बमसे उड़ा जो छोटा टुकड़ा सिरमें लगा था, उसका प्रभाव अबतक गया नहीं है। मस्तिष्क घूमता रहता है। अद्भुत विचार मनमें आते हैं। मैं पागल तो नहीं होने जा रहा हूँ?

३ अप्रैल—नहीं, ब्रिटेन मेरी सहायता नहीं कर

सकता । हिटलरके दारुण अत्याचारका स्वयं यह देश आखेट हो रहा है । हिटलरके पास शैतानकी शक्ति है । उसे पराजित करनेके लिये कोई अलौकिक उपाय चाहिये। मैं अपने देशके लिये क्या कुछ नहीं कर सकता हूँ ?

४ अप्रैल—कल डायरीमें मैं यह अलौकिक उपायकी बात क्या लिख गया ? अलौकिक उपाय सम्भव है क्या ? सुना तो है कि भारतके योगियोंको ऐसी बहुत-सी शक्तियाँ प्राप्त होती हैं । भारत अभी स्वयं पराधीन है । ऐसी शक्ति होती हो तो देश पराधीन क्यों रहे ? किंतु योगी, सुना है कि संसारसे कोई सम्बन्ध ही नहीं रखते । कुछ भी हो एक बार भारत जाकर प्रयत्न करना है । यहाँ पड़े-पड़े भी तो मैं कुछ कर नहीं रहा हूँ ।

५ अप्रैल—आज बहुत दौड़-धूप की है । ब्रिटेनका इंडिया हाउस कहता है—'इन संकटके दिनोंमें भारत-यात्राकी शीघ्र व्यवस्था वह नहीं कर सकता ।' लेकिन यहाँका उपनिवेश विभाग कहता है कि मेरे दक्षिण अफ्रीकाके उपनिवेशोंमें जानेकी व्यवस्था वह इसी सप्ताह कर सकता है । वहाँसे भारत जाना अधिक निरापद होगा और वहाँसे सुविधा भी शीघ्र हो जायगी । अफ्रीका सही, मैं अब यहाँ रहते-रहते ऊब गया हूँ । कहीं भी जाऊँ, इतना संतोष तो रहेगा कि कुछ प्रयत्न कर रहा हूँ ।

इसके आगे बहुत दिनोंका विवरण नहीं था । पता नहीं, वह डायरीमें था ही नहीं, या अनुवादकोंमें किसीने छोड़ दिया था । आगे विवरण इस प्रकार प्रारम्भ होता है ।

२६ जून—भूमध्य-रेखापर स्थित यह प्रदेश इतना उष्ण है कि मुझे लगता है, जलती भट्टीमें डाल दिया गया होऊँ । दिन डूबनेके बाद भी गर्मी बहुत रहती है । दिनमें तो कहीं बाहर जाना सम्भव ही नहीं है । यहाँके शासक बहुत सज्जन हैं । उन्होंने बताया है कि कोई भारतीय साधु इन दिनों यहीं इस उपनिवेशकी राजधानीमें हैं । भारत जानेसे पहले उनसे मिलकर आवश्यक जानकारी प्राप्त कर लेना अच्छा होगा ।

२७ जून—घुटा सिर, लाल कपड़ेमें लिपटा शरीर—पहली बार एक भारतीय साधुसे मिला हूँ । मैं पहुँचा ही तब, जब उनका प्रवचन चल रहा था । अपने पल्ले उपदेशकी कोई बात नहीं पड़ी । मुझे उपदेश चाहिये भी नहीं । मुझे तो अपने देशके शत्रुओंका विनाश करनेका उपाय चाहिये । कल सबेरे आठ बजे साधुने समय दिया है । देखूँगा कि वह मुझे कोई उपयोगी सूचना दे पाता है अथवा नहीं ।

२८ जून—रातसे ही वर्षा हो रही है । वर्षामें ही गाड़ी करके साधुके यहाँ गया । अच्छा आदमी है वह । खूब फर्राटेकी अंग्रेजी बोलता है । मैं समझ तो लेता हूँ; पर अच्छी अंग्रेजी बोल नहीं पाता । लेकिन उसे बीच-बीचमें अपनी भाषा (सम्भवतः संस्कृत) के पद्य (श्लोक) बोलनेका व्यसन है । मेरी बात उसने बहुत ध्यानसे सुनी । लेकिन आजका समय तो उसने मुझे समझानेमें व्यर्थ नष्ट कर दिया । ये भारतके लोग कैसे हैं ? देश पराधीन है और इन्हें धर्म एवं ईश्वरकी चिन्ता ही लगी है । ये तो संतोषका पाठ ही मुझे भी पढ़ाना चाहते हैं । किंतु यह साधु अच्छा है । इससे अपने कामकी सूचना पानेकी आशा मुझे है । कल फिर मिलूँगा ।

२९ जून—आज भारतीय साधुने मुझे दो घंटे समय दिया । वह पता नहीं, मनुष्यके क्या चार लक्ष्य बताता है और उसमें चौथेको ही सबसे बड़ा कहता है । उसका कहना है कि चौथेको समूहमें, समाजमें नहीं पाया जा सकता । केवल वही व्यक्तिका अकेले चलनेका मार्ग है । भारतके योगी उसीको श्रेष्ठ मानते हैं । उसीपर चलते और दूसरोंको चलाते हैं । योगियोंके

पास जाकर भी कोई संसारकी वस्तु माँगना अच्छा नहीं। ऐसा करनेवालेको वे अपने पास टिकने नहीं देते। तब मेरे लिये भारत जाना व्यर्थ रहेगा। मुझे कोई और उपाय सोचना होगा। लेकिन इस साधुसे एक बार और मिलकर पूरा स्पष्टीकरण कर लेना है।

अनुवादककी टिप्पणी—अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष—ये चार ही मनुष्यके पुरुषार्थ हैं। इनमें परम पुरुषार्थ मनुष्यका मोक्ष ही है और मोक्ष अन्तर्मुख होनेपर प्राप्त होता है। अतएव मोक्षका साधन सामूहिक नहीं हो सकता। व्यक्तिके लिये अपनी रुचि तथा अधिकारके अनुसार यह साधन पृथक्-पृथक् होगा तथा सर्वथा वैयक्तिक होगा।

३० जून—भारतीय साधु कहता है—धर्म, धन और भोग—ये तीनों बातें मनुष्यको सामाजिक प्राणी बनाती हैं। इनकी उन्नति एवं सुरक्षा समाजके सुदृढ़ संगठन तथा परस्पर सहयोगसे ही सम्भव रहती है। समाजके सदस्य पूरे समाजके लिये अपना सर्वस्व तथा प्राण देनेको उद्यत रहें, तभी समाजके सब सदस्योंकी स्वाधीनता सुरक्षित रहेगी। जहाँ स्वार्थ, दलबंदी, पदलिप्सा फैली है, वहाँ स्वाधीनताका भी कुछ अधिक अर्थ नहीं है। वहाँ दुर्बल निरन्तर उत्पीड़ित होते रहेंगे और सबल भी सशङ्क ही रहेंगे कि दूसरे उन्हें पदच्युत न कर दें। मैं आज इस साधुके उपदेशसे ऊब गया हूँ। यह दूसरेकी उत्सुकताकी चिन्ता किये बिना अपनी ही बात कहता जाता है। अब भारत जाना व्यर्थ लगता है। कौन जाने कितने इसी प्रकारके उपदेश देनेवाले साधु वहाँ मिलेंगे। इन लोगोंको देशकी ही चिन्ता होती तो क्या इनका अपना देश आजतक पराधीन होता?

१ जुलाई—आज एक नवीन बातका मेरे यहाँ काम करनेवाले हब्शीसे पता लगा है। अफ्रीकाके घने वनमें बसनेवाले लोग बहुत-सी जड़ी-बूटियाँ जानते हैं। उन्हें ऐसे-ऐसे विष ज्ञात हैं कि अग्निमें उसे डाल दो तो जिधर वायु चले, उधरके प्राणी प्राणशून्य हो जायँगे। वे लोग रोग फैला सकते हैं। वे अग्नि और वर्षाके वेगको बाँध सकते हैं। अपने शत्रुओंको केवल जादूसे वे नष्ट कर देते हैं। लेकिन ये अशिक्षित जंगली, पता नहीं, कितनी बातें मिथ्या विश्वासके आधारपर कहते हैं। इस हब्शीकी बातोंमें कितनी ठीक हैं, कहा नहीं जा सकता।

२ जुलाई—यहाँका अंग्रेज कलक्टर तनिक भी चकित नहीं हुआ, जब मैंने उसे अपने हब्शी नौकरकी बातें बतलायीं। वह कहता है कि उसने भी ऐसी बातें बहुत सुनी हैं। उसका विश्वास है कि इन बातोंमें बहुत अधिक सच्ची हैं। कुछ थोड़ी बातें झूठी हो सकती हैं। लेकिन ये जंगली लोग किसी बाहरके व्यक्तिको अपनी कोई जड़ी-बूटी बतलाते नहीं। मन्त्र-तन्त्र तो ये अपने लोगोंको भी नहीं सिखलाते, केवल जातिका मुखिया उसे जानता है। इसीके साथ, ये अत्यन्त निर्दय हैं। किसीको मार देना इनके लिये साधारण बात है। अब भी भीतरी अफ्रीकाके वनोंमें मनुष्यभोजी जातियाँ हैं।

यहाँ फिर पर्याप्त समयतक डायरीके उद्धरण नहीं हैं।

५ अक्टूबर—बेल्जियम कांगोके अधिकारी भी मेरी ही भाँति हिटलरसे क्रुद्ध हैं। इनके देशको भी तो नाजियोंके बूटोंने रौंद रक्खा है। मेरे साथ यहाँके अधिकारियोंकी पूरी सहानुभूति है; किंतु जिससे कहता हूँ, वही मुझे हतोत्साहित करता है। मध्य कांगोमें, बौने लोगोंके मध्य मैं जाना चाहता हूँ, यह सुनते ही सब चौंकते हैं। इस प्रदेशके सात फुट ऊँचे दैत्याकार लोगोंमें भी अबतक कोई मेरा मार्गदर्शक बननेको प्रस्तुत नहीं है। अन्ततः बौने क्यों इतने दुर्धर्ष हैं? मुझे वही युक्ति तो चाहिये? मृत्युके भयसे मैं रुक जाऊँ तो मेरा अबतकका सब उद्योग ही व्यर्थ है।

६ अक्टूबर——परमात्मा दृढ़ संकल्पका साथी है। मेरा साईस आज रातमें एक व्यक्तिको मेरे पास ले आया। देखनेमें वह बड़ा भयानक लगता था। उसके नेत्र हिंसक पशुओं-जैसे लाल थे। मोटे ओठ, घुँघराले केश, बढ़े नख, नंगा शरीर—यह सब तो यहाँ साधारण बात है। मैं अब इस दृश्यका अभ्यस्त हो चुका हूँ। वह व्यक्ति सरकारद्वारा घोषित अपराधी है। उसे वैसे भी अपनी जीवन-रक्षाके लिये भीतरी वनमें रहना है। मेरा नौकर कहता है कि उसका वनमें रहनेवाली जातियोंमें बहुत सम्मान है। क्या वह विश्वसनीय है? वह कहीं 'माऊ-माऊ'का सदस्य या नेता तो नहीं है?

७ अक्टूबर——मैं आज रात्रिमें परमात्माका नाम लेकर चल रहा हूँ। रात्रिमें इसलिये कि दिनमें मेरा मार्गदर्शक प्रत्यक्ष किसीके सामने आना नहीं चाहता। मैं भी यहाँसे छिपकर ही निकल जाना पसंद करता हूँ। पता लगनेपर स्थानीय अधिकारी मुझे वनमें जानेकी अनुमति नहीं देंगे।

आगे विवरण बहुत लम्बे समयतक नहीं है और अन्तमें जो कुछ है, उसे उपसंहार ही कहा जाना चाहिये; क्योंकि उसके बाद इस डायरीके लेखकका क्या हुआ, यह कुछ पता नहीं है। सैनिकने बताया कि या तो उसे बौनोंने मार डाला, अथवा किसी हिंस्र पशुका वह आखेट हो गया। कांगोमें किसीके प्राणों-का ऐसा मूल्य नहीं है कि वह न मिले तो उसका अन्वेषण किया जाय। कोई करना भी चाहे तो अगम्य वनोंके कारण ऐसा करना सम्भव नहीं होगा। डायरी-का यह अन्तिम भाग बिना किसी तिथिके ही प्रारम्भ हुआ है।

—मुझे पता नहीं है कि आज कौन-सी तारीख है। तारीखका पता लगानेका कोई साधन भी नहीं है। कितने दिन मूर्छित रहा हूँ, यह भी मुझे पता नहीं है। स्मृति ठीक काम नहीं कर रही है। मस्तिष्कमें जैसे हथौड़े चल रहे हैं। इस समय जो कुछ स्मरण आ रहा है, वही लिपिबद्ध कर रहा हूँ। वह क्रमशः ही लिखा जायगा, इसका आश्वासन मुझे अपने-आप भी नहीं है।

मैं अधिक भीतर जाना चाहता था वनमें; किंतु मौसम अनुकूल होनेकी प्रतीक्षा करना आवश्यक था। मेरा मार्गदर्शक सचमुच अनेक जंगली जातियोंमें सम्मानित था। वह मेरा गुरु बन गया। उससे केवल ओष्ठ हिलाकर बातचीत करना सीखनेमें मुझे दो महीने लगे। इसके बिना इन जंगली लोगोंके मध्य रहना असम्भव है। इनमें प्रत्येक जातिकी पृथक् भाषा है; किंतु मूक रहकर ओष्ठ हिलानेकी भाषा तो सब समझते हैं। मुझे वन-पशुओंके स्वभाव तथा उनसे बचनेकी युक्तियोंका भी बहुत कुछ ज्ञान अपने मार्गदर्शकसे ही हुआ है। उसने थोड़ी जड़ी-बूटियाँ भी बतायी हैं।

मेरा मार्गदर्शक भी आगे साथ नहीं देता। वह भी मुझे बौनोंके प्रदेशमें जाने नहीं देना चाहता था। लेकिन मैं केवल फूसकी झोपड़ीमें यहाँ घोर वनमें जीवन व्यतीत करने तो नहीं आया था। मैं आगे जाता ही, लेकिन ईश्वरको जब वह स्वीकार होता तब तो……।

उस दिन मेरा मार्गदर्शक भी कहीं चला गया था। मैं जंगली लकड़ीसे एक मजबूत छड़ी बनानेमें लगा था। अचानक लगा कि आँधी आ रही है। दृष्टि दौड़ानेपर भी किसी ओर वृक्ष हिलते नहीं दीखे। मैं सोचने लगा कि यह शब्द कैसा आ रहा है। सहसा चार-पाँच चींटियाँ मुझे दिखायी पड़ीं और मेरे प्राण सूख गये। ये साधारण चींटियोंसे भिन्न चींटियाँ हैं। इनके सम्बन्धमें मैंने जंगली लोगोंसे बहुत सुना है। कई फर्लांग मार्ग घेरकर जब इनकी असंख्य सेना निकलती है, मार्गमें पड़नेवाले वृक्षतक ये चाट जाती हैं। मनुष्य,

पशु अथवा ऐसा कोई पदार्थ जो ये खा सकती हैं, बचता नहीं। अवश्य आज इनका अभियान इधर हुआ है। इनके दलके चलनेका शब्द आ रहा है। वे उस दलकी जासूस चींटियाँ हैं। आगे मार्ग कैसा है, इसका पता दलको देते रहना इनका काम है।

ये जासूस चींटियाँ खड़ी हो गयी थीं। इधर-उधर मूँछ हिलाकर कुछ सूँघ रही थीं। मैंने कमरसे चमड़ेकी पेटी खोलकर उनमेंसे चारको मार दिया। एक सम्भवतः बच गयी और भाग निकली। अवश्य वह मेरी दृष्टि-को धोखा दे गयी थी। मैंने दौड़कर पहला काम यह किया कि अपने घोड़ेको खोल दिया। पशु मनुष्यकी अपेक्षा विपत्तिका आभास पहले पा लेते हैं। छूटते ही घोड़ा तीरकी भाँति एक ओर भाग गया। उसने इतना भी अवसर मुझे नहीं दिया कि मैं उसकी पीठपर जीन डालकर बैठ पाता।

मेरा कुत्ता देरसे भूँक रहा था। अबतक मैंने उसकी ओर ध्यान ही नहीं दिया था। कुत्तेको भी मैंने जंजीरसे मुक्त कर दिया। लेकिन यह स्वामिभक्त प्राणी मेरे आस-पास ही घूमता और भूँकता रहा। पता नहीं उसकी क्या दशा हुई होगी।

इतनेमें मेरे कानके पास भयंकर वेदना हुई। जैसे किसीने सुई चुभा दी हो। हाथ वहाँ गया और एक चींटी मसल गयी। यह पहली चोट मुझपर थी। मैं इससे सँभलूँ, तबतक तो मुख, पीठ, हाथ—लगभग पूरे शरीरमें सुइयाँ चुभने लगीं। चमड़ेकी पेटी मैंने पटकना प्रारम्भ किया; किंतु शीघ्र समझ आ गयी। जहाँतक मैं देख सकता था, केवल चींटियाँ-ही-चींटियाँ थीं। भूमि, दरवाजा, खम्भे सर्वत्र चींटियाँ लदी थीं। सब कुछ काला हो गया था। मैं पेटी फेंककर भागा। दोनों हाथोंसे कपड़े उतारता, फेंकता, शरीर पीटता मैं चींटियोंके झुंडोंको रौंदता प्राण बचानेके लिये पूरे वेगसे भागा जा रहा था।

मेरे शरीरका प्रत्येक भाग चींटियोंसे ढक चुका था। शरीरका एक-एक रोम उनके दंशनसे बिंध रहा था। कुछ दूर एक दलदल था और वही मेरी आशाका आधार था। मुझे स्वयं पता नहीं है कि मैं दलदलतक कैसे पहुँचा और कैसे उसके कीचड़ भरे पानीमें गिर गया। कबतक उस जलमें पड़ा रहा, यह भी जानने-का उपाय नहीं है।

मेरा मार्गदर्शक कहता है कि चींटियोंके आक्रमण-का पता उसे तब लगा, जब उनका दल मेरी झोंपड़ी-को घेरकर आगे बढ़ चुका था। अन्यथा वह जहाँ गया था, उस गाँवमें एक चींटियोंका पुजारी रहता था। वह प्रार्थना करके चींटियोंको मार्ग बदलनेपर विवश कर देता है। उसने अपने गाँवको इसी प्रकार बचाया था। लेकिन मेरी ओरसे वे लोग निराश हो चुके थे।

चींटी-दल रात्रिके मध्यतक वहाँसे जा चुका था। दूसरे दिन मार्गदर्शक कुछ दूसरे लोगोंके साथ आया तो झोंपड़ीका फूसतक वे चींटियाँ चाट गयी थीं। वे लोग तो मेरा कंकाल ही इधर-उधर ढूँढ़ रहे थे; किंतु मैंने जो वस्त्र फेंके थे, उनके बटन दृष्टि पड़ गये। वस्त्र तो चींटियोंका भोजन हो चुका था। बटनसे अनुमान करके वे लोग दलदलतक पहुँचे।

अब भी मेरे पूरे शरीरमें चेचकके समान गड्ढे हैं। घाव कितने दिनमें अच्छे हुए, कौन जाने। मुझे इस स्थानपर—इस पक्की कोठरीमें वही लोग ले आये हैं। कभी यह एक पादरीके लिये यहाँके शासकोंने बनवायी थी। उस पादरीको भी चींटियोंने ही खाया था और तबसे फिर कोई इधर आनेका साहस नहीं कर सका।

चलने योग्य हो जाऊँ तो यहाँसे चला जाऊँगा। जो बात उस भारतीय साधुके कहनेसे समझमें नहीं

आयी थी, वह चींटियोंने समझा दी। मुझे अब फ्रांस जाना है। शत्रुके उन्मूलनका सूत्र मुझे मिल गया है। वह सूत्र है—संगठन। जो देश, जो समाज ऐसे सदस्य रखता है, जो प्रत्येक सदस्य अपने समाजके लिये आगा-पीछा सोचे बिना आत्मार्पण कर सकें, वही विजयी होगा। उसीको जीवित रहनेका अधिकार है। स्वार्थलोलुप, पदलोलुप, कापुरुष लोगोंका समाज कबतक बना रह सकता है। मेरे देशको संगठन चाहिये—स्वार्थत्यागी, स्वात्मदानी साहसी लोगोंका संगठन।

अनुवादककी अन्तमें एक टिप्पणी है—मेरे अपने देशको, अपनी जातिको भी इससे सीखना है। ऐसा संगठन नहीं बनता तो देश एवं समाजकी दुर्दशा दैव भी रोक नहीं सकता।

हार नहीं मानता

(लेखक—श्रीराधेश्यामजी)

प्रजापति त्वष्टाके पुत्र त्रिशिरा बड़े ही तपस्वी, मृदु, जितेन्द्रिय तथा धर्मतत्पर थे। त्रिशिराके अतुलित तेज, तपोबल और सत्यको देखकर सुरपति इन्द्रका मन इन्द्रासनके अपहृत और अधिकृत कर लिये जानेकी शङ्कासे आकुल हो उठा। इन्द्रद्वारा अप्सराएँ भी भेजी गयीं, किंतु त्रिशिराको व्रत-भ्रष्ट करनेमें वे सफल नहीं हो सकीं। भयभीत इन्द्रने वज्र-प्रहारसे त्रिशिराका अन्त कर दिया। त्रिशिराकी मृत्युसे पिता त्वष्टाको बड़ा क्षोभ हुआ। उन्होंने क्रुद्ध होकर इन्द्रके जीवन-नाशके लिये हवनाग्निसे वृत्रासुरको उत्पन्न किया, किंतु इन्द्रने विश्वासघात और छल-कपटके द्वारा वृत्रासुरका भी वध कर डाला। इन्द्र शत्रुके भयसे निःशङ्क हो गये, फिर भी त्रिशिराके वधसे लगी ब्रह्म-हत्याके कारण इन्द्र मन-ही-मन बहुत अशान्त और क्लान्त रहने लगे। अन्तमें वे प्रायश्चित्तद्वारा अपने पापोंका परिमार्जन करनेके लिये सम्पूर्ण लोकोंकी सीमापर जलमें जाकर छिप गये।

इन्द्रलोक सूना हो गया। पर इन्द्रपद रिक्त तो रह नहीं सकता। सभी देवताओंकी दृष्टि मृत्युलोकके सर्वश्रेष्ठ नृपति नहुषपर गयी। नहुष बड़े तेजस्वी, यशस्वी और धार्मिक राजा थे। देवताओं तथा ऋषियोंके अनुरोधपर नहुषने इन्द्र-पद स्वीकार कर लिया और उस पदपर अभिषिक्त होकर वे स्वर्गका शासन सुव्यवस्थित रूपसे करने लगे। ढीले पड़े हुए तन्त्र पुनः तानसे दिये गये। प्रबन्ध-क्रम पूर्ववत् ही था, फिर भी नया-नया-सा लगने लगा। देवर्षि नारदने भी आकर नर-साधनाकी प्रशंसा की और नव देवेन्द्र नहुषको साधुवाद दिया, जिनके पुरुषार्थकी शुभाराधना इन्द्रपदने भी की—

नारायण नारायण धन्य नर साधना।
इन्द्र पदने भी की उसीकी शुभाराधना॥

मृत्युलोक कर्म-भूमि है तो देवलोक भोग-भूमि है। अपने किये पुण्योंका भोग ही वहाँ होता है। धर्म-परायण नहुष भी स्वर्गके सुख-ऐश्वर्यमें डूब गये। वे समस्त देव-उद्यानोंमें, नन्दनवनमें तथा हिमालय आदि पर्वतोंपर तरह-तरहकी क्रीड़ाएँ करने लगे। सुरपुरके समस्त देवनद उनके विहारस्थल थे, समस्त देवाङ्गनाएँ अपने गीत-वाद्यसे, नृत्य-कृत्यसे, विहार-विलाससे उनका रञ्जन करती थीं। देवकाननके समस्त फूल, समस्त फल सुखके झूलेमें उन्हें झुलाते थे। देवलोकका समस्त ऐश्वर्य नहुषके चरणोंपर था।

एक दिन देवलोकविहारी नहुष अप्सराओंके साथ जल-विहारके लिये सुरसरिताके तीरपर आये,

किंतु देखा क्या ? कल्पनाके लोकमें यथार्थता। सुषमाकी सृष्टिमें अद्भुतता। उस अद्भुत यथार्थताको…· शचीको, जो पूर्व इन्द्रकी पत्नी थी, उस शचीको राजा नहुष देखता-का-देखता रह गया। सुन्दरी शची सुरसरितासे स्नान करके निकली ही थी और वस्त्र-परिवर्तनके उपरान्त अपने वास-स्थानको चली गयी। 'इन्द्राणीकी जय हो' जय-घोषने स्वतः नहुषको उसका परिचय दे दिया। नहुष आत्मभाव होकर तादात्म्यभावको प्राप्त हो चुका था।

नहुषने लौटकर देव-महलको पवित्र करनेके लिये दूतीद्वारा शचीसे प्रार्थना की। सुनते ही शची अवाक् हो गयी। क्या अब धर्मरक्षा भी सम्भव नहीं ?

'त्यागो शचीकान्त बननेकी पाप-वासना।'

—का प्रत्युत्तर दूतीको देकर पागल-सी डोलती हुई शची देवगुरु बृहस्पतिके चरणोंके समीप गयी। यथोचित शिष्टाचारके उपरान्त धर्मसंकटसे रक्षा करनेके लिये पुनः-पुनः गुहार करने लगी। तभी नहुषका दूत भी आया। शचीके पाससे लौटकर दूतीने शचीका उत्तर नहुषको सुना दिया और उसे सुनकर नहुषके पास और साधन ही क्या था ? नहुषने भी दूतके द्वारा अपनी समस्याको देवगुरु बृहस्पतिके सामने रख दिया। दूत नहुषके प्रस्तावका निवेदन करके मौन हो गया। तबतक देवगण भी एकत्र हो चुके थे। उपस्थित परिस्थितिपर परस्परमें विचार होने लगा। नहुषके तर्क भी सबल थे। प्रथम, वह देवलोकाधिपति है, अतः देवलोककी प्रत्येक वस्तु उसकी भोग्य है। दूसरे, एक इन्द्र और एक इन्द्राणी, अतः दोनों वियुक्त क्यों ? किंतु यह भी सत्य था कि इन्द्राणीका इन्द्र प्रायश्चित्त-हेतु अन्यत्र तपमें रत है। स्थिति विषम थी। देवताओंको कोई राह नहीं सूझ पा रही थी। अन्तमें यही तय हुआ कि नहुष शचीको प्राप्त करें और शर्त यह लगा दी गयी कि डोला सप्तर्षियोंके कंधोंपर रखवाकर नहुष आवें। यही संदेश नहुषको कहला दिया गया।

कामातुर क्या नहीं करता ? ऋषि-यानका प्रस्ताव भी नहुषको स्वीकृत था। उसकी आज्ञासे ऋषियोंने डोला उठाया और शचीके भवनकी ओर चले। वासना-व्यथित नहुषको ऋषियोंकी तेज चाल भी मन्द लगी। 'सर्प-सर्प'—'शीघ्र चलो, शीघ्र चलो' का आदेश देते हुए उसने एक ऋषिपर पदप्रहार कर दिया। यही आगमें घीकी आहुति थी। देवमण्डल तथा ऋषिगण पहलेसे ही नहुषके आचरणसे आग-बबूला हो रहे थे। किंतु इस चरण-प्रहारने शेषकी भी पूर्ति कर दी। तुरंत ही ऋषियोंने शाप दिया—'जा, सर्पयोनिमें गिर।'

शापने सत्यपरसे आवरण उठा लिया। सारा नशा समाप्त हो गया। कामका ज्वार उतर चुका था। स्थिति स्पष्ट हो गयी। वास्तविकता सामने आ गयी। वासनाका नग्न रूप दिखलायी देने लगा। स्वयंके दोष दृष्टि-पथपर आने लगे। अब स्वर्गसे उसका पतन होनेवाला है। समस्त देववर्ग, ऋषिगण, देवगुरु बृहस्पति, देवर्षि नारद, शची, यक्ष, गन्धर्व, किन्नर आदि सभी वहाँ उपस्थित हो गये। उस दुःखमें राजा नहुषने सभीके सामने अपनी भूल स्वीकार करते हुए क्षमा माँगी। उसने स्पष्ट कहा—

'मानता हूँ, भूल हुई, खेद मुझे इसका।'

शचीसे भी साफ-साफ कहा—

मानता हूँ आड़ ही ली मैंने स्वाधिकारकी।
मूलमें तो प्रेरणा थी कामके विकारकी॥

नहुषको सबसे अधिक दुःख था नारदके उपदेशके विस्मरणका·······

मानता हूँ भूल गया नारदका कहना,
'दैत्योंसे बचाये यह भोग-धाम रहना।'

अपनी वर्तमान दशापर नहुषको अत्यधिक आन्तरिक वेदना है —

मानता हूँ आप लज्जा पाप अविनयमें,
आ घुसा असुर हाय मेरे ही हृदयमें॥

नहुष आदिसे अन्ततक अपनी एक-एक भूलको, अपने एक-एक दोषको स्वीकार कर रहा है और उन सबके लिये उसने क्षमा भी माँगी। उसने सभी कुछ मान लिया, अपनी वासनाविमुग्धता, अपनी आसुरी भावना, अपनी इन्द्र-पद-मदान्धता, अपनी वर्तमान अधोमुखता। अपना सभी कुछ मानकर भी बस एक चीज नहीं मानी। हार नहीं मानता…………

मानता हूँ और सब, हार नहीं मानता।
अपनी अगति नहीं आज भी मैं जानता॥
चलना मुझे है बस अन्त तक चलना।
गिरना ही मुख्य नहीं, मुख्य है सँभलना॥
गिरना क्या उसका उठा ही नहीं जो कभी।
मैं ही तो उठा था आप गिरता हूँ जो अभी॥
फिर भी उठूँगा और चढ़के रहूँगा मैं।
नर हूँ पुरुष हूँ, चढ़के रहूँगा मैं॥

नहुषकी यह उक्ति प्रकाशका स्तम्भ है, जो सदा प्रकाश छिटकाती रहेगी। इन शब्दोंमें वह शक्ति है जो फिसलतेको सहारा देती है। ये शब्द क्या हैं, स्फूर्तिकी लहरियाँ हैं। इन शब्दोंमें उत्साहका सागर है जो सदा लहराता रहेगा। निराशाकी निशा सभीके जीवनमें आती है और यही निशा नहुषके जीवनमें भी आयी। राजा नहुषके जीवनमें उत्थान भी आया और पतन भी आया। प्रकाशके बाद अन्धकार आया, पर अन्धकारके सामने घुटने नहीं टेक दिये। गिरनेके बाद भी उठनेके निश्चयने नहुषके जीवनमें सौरभ बिखेरा है। नहुषका चरित्र दुर्बल होकर भी उज्ज्वल है। न जाने कितने स्खलितोंके लिये शक्तिका केन्द्र और स्फूर्तिका स्रोत है। जिस प्रकार हल्दीघाटीकी हार प्रतापके शौर्य एवं पराक्रमके ही गीत गाती है, उसी प्रकार स्वर्गसे पतनोन्मुख नहुषकी फिर-फिर उठनेकी भावना मानव-चरित्रकी महत्ता ही प्रतिष्ठित करती है।

जब बैंक टूटा

(लेखक—श्रीराजेन्द्रप्रसादजी जैन)

आज बैंक-मैनेजरका व्यवहार कुछ बदला हुआ था। काम पकड़नेकी अपेक्षा कुछ टालनेका प्रयत्न कर रहे थे। हुंडी तो किसीकी ली ही नहीं, ऋण भी किसीको नहीं दिया। कह दिया, रुपया भेजनेके लिये हेड आफिसको तार दिया है, इस समय कैशकी कमी है। कुछ समयके पश्चात् वे अपने कमरेसे चलकर वहाँ आये, जहाँ क्लर्क लोग काम कर रहे थे और आकर एकाउंटेंटकी मेजके पास खड़े हो गये,—'ठीक दो बजे काम बंद कर देना' यह कहा। काममें व्यस्त एकाउंटेंटने बिना सिर उठाये खड़े होनेका प्रयत्न किया और चपरासीको आवाज लगायी, 'ठाकुर! डेढ़ बजा है। फाटक बंद करो। किसी नये आदमीको मत आने दो।'

मैनेजर साहब और एकाउंटेंटकी वाणी सारे बैंकमें गूँज गयी। क्लर्कोंके चेहरे प्रसन्नतासे खिल गये। ग्राहक अधिक व्यस्त नजर आने लगे। ढाई बजेतक बैंक ग्राहकोंसे साफ हो गया। कामको निपटानेमें आज मैनेजर साहब भी क्लर्कोंकी सहायता कर रहे थे और ४ बजेतक सब काम समाप्त हो गया। तब सब लोग मैनेजर साहबके कमरेमें इकट्ठे हुए और उत्सुकतासे उनके मुँहको देखने लगे। बड़े धीमे और स्पष्ट स्वरमें मैनेजर साहबने कहा, 'भाई! हमारा बैंक टूट गया। कोई खतरेकी बात नहीं है, दूसरे बैंकमें विलय हो गया है। सबका रुपया वापस होगा।'

'और हमारी नौकरी?'

'जिसको जहाँ मिले ढूँढ़ लो। मैं फौरन रिलीव कर दूँगा। नोटिस पीरियडवाली शर्त नहीं।'

'कहाँ ढूँढ़ लें। सारी जवानी तो इस बैंकमें खपा दी। अब बुढ़ापेमें कहाँ जायँ?'

'कटोरा हाथमें लो और भीख माँगो।'

'उसके विरुद्ध भी तो कानून बननेवाला है, अब वह भी नहीं मिलेगी।'

चेहरोंपर मुर्दनी छा गयी। कुछके कम, कुछके ज्यादा; परंतु श्रीवास्तव, अरजरिया और कुँअरके चेहरोंपर वही पूर्ववत् मस्ती और सबसे अधिक कुँअरपर।

कुछ देरकी निस्तब्धताके पश्चात् मैनेजर साहबने कहा—'भाई श्रीवास्तव! तुम्हें तो कोई चिन्ता नहीं। तुम्हारे पिता होम मिनिस्टरके पुराने लंगोटिया यार हैं। तुम्हें तो कहीं-न-

कहीं चिपकवा ही देंगे। हम गरीबोंका भी ध्यान रखना।'

'चिन्ता कैसे नहीं मैनेजर साहब! चिन्ता तो है ही। बड़े आदमियोंका क्या? सुनें न सुनें।' इसके अतिरिक्त श्रीवास्तव और क्या उत्तर देता?

'चिन्ता हमारे पण्डित अरजरियाको भी नहीं। पुराने पुरोहित हैं। ब्राह्मण होते हुए भी यहाँके सबसे बड़े धनाढ्य हैं। इनके बाबा बड़े पक्के ज्योतिषी थे। बड़ा रुपया कमाया उन्होंने। भृगुसंहिता थी उनके पास ऐसा सुना गया था।'

'यह तो अपना-अपना स्वभाव है। रुपया होता तो यहाँ नौकरी करने आते? देखो कुँअरको, कितनी मौज ले रहा है!' अरजरियाने उत्तर दिया।

'अजी हाँ, बिना रुपयेसे मस्ती आ सकती है? कुँअरको तुम क्या समझो। छुपे रुस्तम हैं। नाम ही जो कुँअर ठहरा। पुराने जमींदारका लड़का है। लाख दो लाख तो होगा इनके पिताजीके पास।'

इसपर सब हँसे, परंतु हँस नहीं सके। कुँअरके चेहरेसे विश्वास टपक रहा था। क्या अबतक हम धोखेमें ही रहे, सचमुच कुँअर छुपा रुस्तम है!

'सच बताओ कुँअर! तुम्हारी पहुँच है या तुम्हारे पास लाख दो लाखकी पुड़िया है?'

'मेरी पहुँच भी है और मेरे पास न सही, मेरे पिताके पास रुपया भी है। मुझे रोजगारकी कोई चिन्ता नहीं।'

'कहाँतक है तुम्हारी पहुँच? मिनिस्टर तक?'

'उससे भी आगे।'

'चीफ मिनिस्टर तक।'

'उससे भी आगे।'

'भारतके प्रधानमन्त्री तक।'

'उससे भी आगे।'

सब खिलखिलाकर हँस पड़े। मैनेजरका चेहरा कुछ गम्भीर हो गया।

'खैर पहुँच न सही, पर कुँअरके पिताजीके पास रुपये तो लाख दो लाख अवश्य होंगे। क्यों कुँअर कितना होगा?'

'बहुत है, अथाह है।'

'दस बीस लाख?'

'कह रहा हूँ, अथाह है।'

'दस-बीस करोड़?'

'अथाह! अथाह! अथाह।'

'चालीस-पचास करोड़, अरब दो अरब, सौ अरब, संख महासंख।'

'अथाह! अथाह! अथाह!'

फिर कुछ लोगोंने हँसनेका प्रयत्न किया और कुछ गम्भीर हो गये।

(२)

कुँअरकी एक छोटी साली थी ग्रेजुएट, बहुत सुन्दर और सुसंस्कृत। कुँअरका उसपर बहुत स्नेह रहा है, परंतु दोनोंकी विचारधारा नहीं मिलती। कुँअरके प्रति रम्मीके हृदयमें बहुत आदर है, परंतु वह उसे व्यवहारपटु नहीं मानती। इसलिये छोटी होते हुए भी वह कुँअरको ठीक मार्गपर लगानेका प्रयत्न करती रहती है। कुँअरके नौकरीसे हट जानेका समाचार सुनकर वह अपने पतिके साथ वहाँ आयी थी।

दोनों पति-पत्नी कुँअरको सदुपदेश देनेके अवसरकी खोजमें थे कि इसी बीचमें भूतपूर्व मैनेजर साहब पधारे। बड़े हर्षके साथ उन्होंने समाचार दिया कि उन्हें बैंकके स्वामियोंने अपने किसी दूसरे उद्योगमें एक बहुत अच्छा पद दे दिया है, जिन-जिनसे प्रसन्न थे, उन सब कर्मचारियोंको काम दे रहे हैं और कुँअर यदि प्रयत्न करे तो उसे भी कोई काम अवश्य मिल जायगा। रम्मी और उसके पतिको इस समाचारसे बड़ी प्रसन्नता हुई। रम्मीने कहा—'भैया! अब कोशिश कर लो। सेठजीके पास जानेभरकी देर है। मैंने सुना है वे तुमसे बहुत प्रसन्न हैं।'

'मैं सेठजीके पास नहीं जाऊँगा।'

'तो क्या बेकार बैठोगे? आजकल रोजगार बड़ी कठिनाईसे मिलता है। ऐंठ मत दिखाओ भैया! बड़े आदमी अपनेसे कितने ही प्रसन्न क्यों न हों; बिना कहे वे भी कुछ नहीं करते। क्यों करें बेचारे, इतनी भीड़ रहती है उनके पास।'

'मेरा सेठ तो बिना कहे भी सब कुछ करता है। कितनी ही भीड़ हो, वह अपने सेवकोंको नहीं भूलता।'

'तो अब क्यों भूल गया?'

'अबतक मैंने उसकी सेवा की कब? अभीतक तो मैंने सेठजीकी सेवा की है।'

'तो मतलब यह कि अब कुछ नहीं करोगे । हाथपर हाथ धरके बैठे रहोगे ।'

'हाथपर हाथ धरके क्यों बैठूँगा ? कोई-न-कोई रोजगार ढूँढूँगा ।'

'मैं कह रही हूँ रोजगार मिलना बड़ा कठिन है । देशमें बड़ी भयंकर बेकारी है ।'

'जिस देशमें करनेके लिये इतना बड़ा काम पड़ा हुआ हो वहाँ बेकारी कैसी ? क्या जनताको आज भरपेट अनाज, शुद्ध और पर्याप्त घी, दूध, तेल, यहाँतक कि ओषधि और शहद मिलना भी सम्भव है ? क्या यह काम कुछ कम है कि जनताको उसकी आवश्यकताके अनुसार पर्याप्त और शुद्ध पदार्थ मिल सकें ?…'

'तो भैया अब घोसीका काम करेंगे । जनताको शुद्ध घी और दूध सप्लाई किया करेंगे ।'

'सर्राफेमें कितनी लूट-खसोट है । क्या लोगोंको उनकी इच्छाके अनुसार खरे सोने-चाँदीके आभूषण मिल सकते हैं ।'

'अब भैया सर्राफा सीखोगे ?'

'क्या सारा देश शिक्षित है ? क्या आज हमारे देशमें सभी रोगियोंकी चिकित्साकी समुचित व्यवस्था है ? क्या शिक्षित जनताको विशेषतः ग्रामीण जनताको सुरुचिपूर्ण साहित्य पढ़नेको मिल सकता है ?'

'अब भैया अध्यापक बनेंगे, डाक्टर बनेंगे, ओह ! मैं भूलती हूँ—वैद्य बनेंगे; बुक्सेलर बनेंगे ।'

'जनताके लिये ।' रम्मीके पतिने ताल लगाते हुए कहा ।

'और जनता—गुस्ताखी माफ हो—सिरमें ईंट मारेगी ।'

'मैं कहता हूँ रम्मी, हमारे देशमें बेकारी या बेरोजगारी नहीं है । बेकारी या बेरोजगारी तो स्वर्गमें हो सकती है, जहाँ सारी आवश्यकताएँ अपने-आप पूरी हो जाती हैं । पृथ्वी-तलपर नहीं, जहाँ इतना सब कुछ करनेको पड़ा हुआ है ।'

'तुम्हें भी शब्दोंकी खींचतान करनेकी आदत पड़ गयी है, कुँअर !' रम्मीके पतिने गम्भीर होते हुए कहा—'प्रत्येक शब्दके प्रचलित अर्थ लेने चाहिये । बेकारी या बेरोजगारीसे अर्थ है ऐसे काम, जिनके बदलेमें अर्थकी प्राप्ति न हो । अनाज, शुद्ध घी, दूध, शहद, ओषधि और तेलके व्यवसायमें यदि आर्थिक लाभ नहीं होगा, तो तुम हानि ~~कबतक~~ उठाओगे ? वे सब काम तुम्हें बंद करने पड़ेंगे । अध्यापन, चिकित्सा, साहित्य-सृजन अथवा वितरणमें आर्थिक हानिका कोई भय नहीं है, परंतु इन सबसे जब कुछ प्राप्ति नहीं होगी तो तुम्हारा और तुम्हारे परिवारका भरण-पोषण कैसे होगा ? और वह स्थिति बेकारी व बेरोजगारीकी ही कहलायगी, भले ही तुम रात-दिन काममें व्यस्त रहो ।'

'और यदि मैं सेठजीकी खुशामद करके उनके यहाँ नौकर हो जाऊँ तो मेरा और मेरे परिवारका भरण-पोषण कौन करेगा ?'

'सेठजी करेंगे ।'

'क्यों ?'

'क्योंकि तुम सेठजीकी सेवा करोगे ।'

'और जब मैं उसकी सेवा करूँगा तो क्या वह मेरा और मेरे परिवारका भरण-पोषण नहीं करेगा ? मैं जनताकी सेवा नहीं करना चाहता; जनताके माध्यमसे उनकी सेवा करना चाहता हूँ । इसलिये यदि जनता मेरे सिरमें ईंट मारेगी तो मुझे कोई दुःख नहीं होगा, यदि वह मेरेसे प्रसन्न रहा । मैं जनसेवक नहीं, ईश्वर-सेवक बनना चाहता हूँ । बैंकमें काम करते हुए हम व्यापारियोंके हानि-लाभका नहीं, सेठजीके हानि-लाभका ध्यान रखते थे । यद्यपि हमारी सेवाओंसे व्यापारियों और व्यवसायियोंको बहुत लाभ पहुँचता था; परंतु वह सेठजीके नौकरकी हैसियतसे हम उन्हें लाभ पहुँचाते थे, अपनी स्वतन्त्र सत्तासे नहीं और जब कभी बैंक और व्यापारियोंके स्वार्थमें टकराव होता था तो हम व्यापारियोंके स्वार्थ और उनकी अप्रसन्नताकी चिन्ता नहीं करते थे । इसलिये हम व्यक्तिगत रूपसे किसी व्यापारीसे यह आशा भी नहीं करते थे कि वह हमारी सेवाओंके बदलेमें किसीको भी कुछ देगा । जो कुछ हमें माँगना होता था हम सेठजीसे ही माँगते थे ।'

'बेकारी और बेरोजगारीके प्रचलित अर्थ मैं जानता हूँ, परंतु मैं उन्हें बदलना चाहता हूँ । वास्तविकता तो यह है कि मनुष्य कभी निठल्ला नहीं बैठ सकता । वह हर समय कुछ-न-कुछ करता रहता है । परंतु जब अपने समस्त कार्यकलापोंके फलस्वरूप वह अर्थोपार्जन नहीं कर पाता तो उसे हमें बेकार या बेरोजगार कहते हैं । प्रत्येक युगमें और प्रत्येक समाजमें कुछ कार्योंके बदले अर्थकी प्राप्ति होती है और कुछके बदले नहीं । जो लोग ऐसे कार्य करते हैं जिनसे अर्थकी प्राप्ति हो, वे उद्यमी कहलाते हैं और

जो ऐसे काम करते हैं जिनसे अर्थकी प्राप्ति नहीं वे बेकार या निरुद्यमी कहे जाते हैं। इसमें श्रम, योग्यता और समाजसेवाका कोई महत्त्व नहीं है। प्रत्येक युगमें उद्यमी और उद्यमहीनोंकी लक्षणा बदलती रहती है। मुसल्मानोंमें ब्याज लेना निषिद्ध माना जाता है और यदि आज संसारमें शरीयतका विधान लागू हो जाय तो अपनेको उद्यमी और पुरुषार्थी कहनेवाले बहुत-से लोग बेकारों और निठल्लोंकी श्रेणीमें आ जायँ। जमींदारी समाप्त होते ही वे बड़े-बड़े जमींदार निठल्लोंकी श्रेणीमें आ गये जो अपने द्वारपर खड़े हुए भिखारीको यह कहकर भगा दिया करते थे कि 'अरे, कमाकर नहीं खाया जाता?' कम्यूनिस्ट देशोंमें वही दशा बड़े-बड़े पूँजीपतियोंकी हुई है। वास्तवमें निठल्ला वह है जिसके समस्त कार्य-कलापोंसे समाजको कोई लाभ नहीं, भले ही उसे आर्थिक लाभ प्रचुर मात्रामें होता हो। बदनी, फाटका, घुड़दौड़, सुगम वर्गपहेली, अश्लील और निरर्थक साहित्य और चलचित्र—ये सब निठल्लेपनके चिह्न हैं। लक्ष्य सेवा होना चाहिये न कि आर्थिक लाभ। जब हम अधिक-से-अधिक सेवा करना चाहेंगे तो सेवाके लिये हमें सदैव अधिक-से-अधिक व्यापक क्षेत्र मिलता रहेगा। वहाँ कभी भी बेकारी या बेरोजगारी-जैसे शब्द सुननेको नहीं मिलेंगे। जब हम अर्थसंचय करना चाहेंगे तो चाहे कैसी ही आर्थिक व्यवस्था बना लें—कम्यूनिस्ट, समाजवादी, पूँजीवादी, गान्धीवादी—बेकारी वहाँसे जा नहीं सकती। आज हमारे दृष्टिकोणमें कितना परिवर्तन हो गया है। हम धर्मकी, देशकी, जनताकी और ईश्वरकी किसीकी भी सेवा करना नहीं चाहते। बस—अर्थ, अर्थ, अर्थ। चारों ओर यही पुकार है। साहित्यमें भी यही नारा है। समाचार-पत्रोंपर अब यह लिखा जाने लगा है कि हमारा पत्र वही पढ़े जो इसे खरीदकर ले। उधार लेकर न पढ़े। एक पत्र जो बीस भाइयोंकी सेवा कर सकता था, वह केवल एककी ही करे। हम अर्थके लोभमें अपनी सेवा करनेकी शक्तिको पङ्गु करते जा रहे हैं। दोनों दृष्टिकोणोंमें कितना अन्तर है। एक सम्पादक अपने पाठकोंकी संख्या देखता है, दूसरा ग्राहकोंकी। किसी भी पत्रके जैसे-जैसे पाठक बढ़ते हैं, वैसे-ही-वैसे ग्राहक बढ़ते हैं। हमारी नास्तिकता इस चरम सीमापर पहुँच गयी है कि हम व्यापारके सिद्धान्तोंको भी भूलते जा रहे हैं।

Where is the life we have lost in living?*
Where is the wisdom we have lost in knowledge?

'यह सब तो ठीक है भैया, परंतु इस मार्गपर चलनेके लिये बड़े ईश्वर-विश्वासकी आवश्यकता है।'

'मार्ग यदि ठीक है तो उसके लिये साधन जुटाने चाहिये। ईश्वर-विश्वास ऐसी पूँजी है जिसे हर एक जुटा सकता है।'

'पुरुषार्थ क्या बिल्कुल छोड़ दिया जाय? मेरा आशय है ऐसा पुरुषार्थ जिसपर समाज और राज्यकी मुहर लगी हुई हो।'

'यदि ऐसा पुरुषार्थ न किया जाय तो हम नष्ट हो जायँगे क्या? देखो रम्मी! मानव-जीवनमें सबसे बड़ी महत्त्वपूर्ण घटना हमारा जन्म है, यदि हमारा जन्म ही न हुआ होता तो हम पुरुषार्थ कहाँसे करते?'

'यह ठीक है और वह जन्म हमारे हाथमें नहीं। वह दूसरोंके हाथमें था। मनुष्य अपने भाग्यका विधाता हो सकता है, परंतु अपने जन्मका विधाता नहीं। जैसे मकान दूसरेने बना दिया हो और उसके तोड़ने-फोड़ने और सजानेभरका अधिकार हमें हो।'

रम्मीके पति फिर तन गये। 'आप व्यक्तिगत दृष्टिसे बात कर रहे हैं, समष्टिरूपसे बात कीजिये। यह ठीक है कि मनुष्य अपने भाग्यका विधाता नहीं, पुरुषार्थकी शक्ति सीमित है; परंतु यह तभी है जब हम व्यक्तिगत दृष्टिसे सोचते हैं। सामूहिक दृष्टिसे सोचिये। हमारा जन्म हमारे माता-पिताके हाथमें था, उनका जन्म उनके माता-पिताके हाथमें और उनका उनके माता-पिताके हाथमें। हम जो कुछ हैं, वह केवल हमारे ही कर्मोंका फल नहीं, बल्कि हमसे पहले होनेवाली हजारों-लाखों पीढ़ियोंके कर्मोंका फल भी उसमें सम्मिलित है। यदि हम ठीक कर्म करेंगे तो उसका अच्छा फल न केवल हमें मिलेगा, बल्कि आनेवाली संततियोंको भी प्राप्त होगा। निस्संदेह हमारा जन्म हमारे हाथमें तो नहीं था, परंतु हमारे माता-पिताके हाथमें था। था तो मनुष्यहीके हाथमें।'

'और सबसे पूर्व किसके हाथमें था? जब सृष्टि ही नहीं थी, तब किसके हाथमें था? जब भूतलपर मनुष्य अवतीर्ण नहीं हुआ था, तब किसके हाथमें था?'

* भोगोंके पीछे इतने पड़े कि हमारे सारे भोग नीरस हो उठे। चतुराईके पीछे इतने पड़े कि स्वयं अपने हानि-लाभका भी ज्ञान नहीं रहा—इलियट।

'देखिये आप डार्विनको पढ़िये । पहले हमारी पृथ्वी आगका गोला था । यह धीरे-धीरे ठंडी हुई । फिर वनस्पति उत्पन्न हुए; फिर जलचर, फिर पशु, फिर बंदर, फिर मनुष्य ।'

'तो क्या इस पृथ्वीने ठंडा होनेके लिये कुछ पुरुषार्थ किया था ? किसके पुरुषार्थसे यह ठंडी हुई और किसके पुरुषार्थसे जड धीरे-धीरे मानवरूपमें आ गया । क्या जडने जलचर बननेके लिये और जलचरने पशु और पशुने मनुष्य बननेके लिये कोई पुरुषार्थ किया था ? जिस अदम्य शक्तिने एक जलते हुए गोलेको ठंडा करके बिना हमारे किसी पुरुषार्थके जडको धीरे-धीरे मानव-रूपमें परिवर्तित कर दिया, वह अब क्या मानवको भूल जायगी ? या उससे डरकर भाग जायगी ? वह शक्ति—वे सृष्टि और प्रकृतिके अटल नियम तो अब भी मौजूद हैं । वे नष्ट नहीं हुए और न मनुष्य उनकी पकड़के बाहर ही है ।

Life you may evade but death you shall not.*

(३)

लगभग पाँच वर्ष बीत गये, आज यकायक मैनेजर साहब—भूतपूर्व मैनेजर महोदय बैंक—कुँअरके पास आये। बहुत परेशान और बेचैन !

कुँअरने पूछा, 'कुशल तो है ।'

'मेरी नौकरी फिर छूट गयी । शेष सब कुशल है । पैसा आजकी महँगाईके समयमें बचता ही नहीं । गृहिणीके आभूषण बेच-बेचकर खा रहा हूँ ।'

'सेठजीसे नहीं मिले ?'

'मिला था । सेठजीका दिवाला खिसक गया है । मुझे मालूम था । मैं नौकरीकी खोजमें नहीं गया था, फिर भी बड़े कातर स्वरमें कहने लगे, 'तुमलोगोंकी बड़ी चिन्ता है, तुम्हारा क्या होगा ? बैंक क्या टूटा, मैं भी टूट गया ।'

'मेरा वह तो नहीं टूटा ।' कुँअरने कहा ।

'वह नहीं टूटता । वह नहीं टूटता ।' मैनेजर साहबने कई बार दुहराया ।

सोइ पावन सोइ सुभग सरीरा

(लेखक—पं० श्रीसुनहरीलालजी शर्मा)

आस्तिक और नास्तिक सभी इस तथ्यको स्वीकार करते हैं कि प्रभुकी सृष्टिमें मानवका स्तर सबसे ऊँचा माना गया है । मानवमें कुछ ऐसी विलक्षणताएँ हैं, जो अन्य प्राणियोंमें नहीं हैं । इन्हींके कारण वह इतर प्राणियोंपर एवं प्रकृतिपर आधिपत्यका दावा कर रहा है । मनुष्य अपने बुद्धियोगसे अक्षुण्ण सुखकी प्राप्ति कर सकता है, इसी सुखप्राप्तिके निमित्त ही सम्पूर्ण जगत् है । वेद, शास्त्र, पुराण, रामायण आदि सब मानव-लक्ष्यका अनेक प्रकारसे प्रतिपादन करते हुए निरतिशय सुखकी ओर इसे ले जाते हैं । अतएव यदि मानव अपने लक्ष्य-की ओर अग्रसर नहीं होता तो वह मानव कहलानेका अधिकारी नहीं ।

मानवको मानवोचित मर्यादाके जीवनदानके लिये गोस्वामी तुलसीदासजीद्वारा मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामके पावन, जगत्-पावन, त्रैलोक्यपावन चारु चरित्रका चित्रण हुआ । रामचरितमानस तथा अन्यान्य ग्रन्थोंके द्वारा उन्होंने सनातनधर्ममें आस्था रखनेकी सुन्दर सीख दी । उनका कथन है कि—

स्वारथ साँच जीव कहुँ एहा ।
मन क्रम बचन राम पद नेहा ॥
सोइ पावन सोइ सुभग सरीरा ।
जो तनु पाइ भजिअ रघुबीरा ॥

उपर्युक्त अर्धालीमें जो 'स्वारथ साँच' शब्दोंपर विचार किया जाय तो यह विदित होता है कि क्या झूठा स्वार्थ भी होता है ? तो उत्तर यह है कि धनधान्य भोग-ऐश्वर्य आदि सब ऐसे ही स्वार्थ हैं; क्योंकि इनसे

* जीवनभर तुम अपने ऊपर गर्व कर सकते हो; परंतु मृत्युके समय तुम्हें अवश्य अनुभव होगा कि तुमसे भी बड़ी कोई सत्ता है ।—इलियट

जीवका कल्याण नहीं होता वरं इनके कारण भवमें भ्रमण करना पड़ता है। सच्चा स्वार्थ वही है, जो भवबन्धनको सदाके लिये काट दे और जिससे भगवच्चरणारविन्दमें प्रेम हो जाय। यही परम परमार्थ भी है—

स्वारथ परम परमारथ एहू। मन क्रम बचन राम पद नेहू ॥

इसीलिये नीचेकी अर्धालीमें कहते हैं—

सोइ पावन सोइ सुभग सरीरा। जो तन पाइ भजिअ रघुबीरा ॥

उपर्युक्त चौपाईका तात्पर्य यह है कि ऐसे शरीरधारी, जो भगवान् श्रीरामके चरणोंमें प्रेम करते हैं, पावनकर्ता हैं, दर्शनीय हैं। उनके दर्शन और स्पर्शसे पाप-ताप नष्ट हो जाते हैं।

ऐसा मानव जिस स्थानपर रहता है, जिस कालमें विचरण करता है, जिन पुरुषोंके बीचमें विचरण करता है—वह स्थान, काल और वे पुरुष भी पवित्र हो जाते हैं।

कुलं पवित्रं जननी कृतार्था
वसुन्धरा भाग्यवती च धन्या।
स्वर्गे स्थिता ये पितरोऽपि धन्या
येषां कुले वैष्णवनामधेयम् ॥

इतना ही नहीं, उनके दर्शन-स्पर्शसे सारी पापराशि नष्ट हो जाती है।

जेहि दरस परस समागमादिक पापरासि नसाइये।

शरीर क्षणभङ्गुर है, पता नहीं किस क्षण मृत्यु हो जाय। इसलिये आलस्य-प्रमादका परित्याग करके जो भगवत्-प्राप्तिकी साधनामें प्रवृत्त होता है, वही सच्चा मानव है। मानव-जीवनका एक-एक क्षण अमूल्य है। इसे आलस्य-प्रमादमें तथा व्यर्थ चर्चामें या क्रियामें खो देना जीवनका बहुत बड़ा दुरुपयोग है।

आज भौतिक विज्ञानकी तिमिरमयी रजनीमें मानवता पिच्छल पथपर लाठी टेक-टेककर ऊपर चढ़नेकी चेष्टा कर रही है। दोनों ओर खाइयाँ हैं और अन्धकारमें पैर फिसलनेका डर है। ऐसे समयमें हमें ज्ञानरश्मिकी आवश्यकता है। इसके लिये हमें महापुरुषोंके पद-चिह्नोंका अनुसरण करना होगा। मानवताके विकासके लिये हमें समय, शक्ति तथा प्राप्त सामग्रीका सदुपयोग करना आवश्यक है। समयका एक क्षण भी, शक्तिका एक कण भी तथा प्राप्त साधन-सामग्रीका एक अणु भी व्यर्थ नहीं जाना चाहिये।

सुरदुर्लभ मानव-शरीर जिसे प्राप्त हुआ है, वह बड़ा भाग्यशाली जीव है। इस शरीरके समान और कोई शरीर नहीं। चराचर जगत्के जीव यह चाह करते हैं कि उन्हें मानव-शरीर प्राप्त हो जाय तो वे संसारके पाप-तापसे छुटकारा पाकर परम शान्तिको प्राप्त कर लें।

वस्तुतः मानव-शरीरका प्राप्त होना ही कठिन है। अनेकों पुण्योंके फलस्वरूप प्रभुकृपासे इसकी प्राप्ति होती है। इतना होनेपर भी मानव-शरीर क्षणभङ्गुर, नाशवान् तथा रोगग्रस्त होनेके कारण दुःखदायी बन जाता है। इसलिये बुद्धिमान् मनुष्यको इसके नष्ट होनेसे पहले ही परमात्माकी प्राप्तिका उपाय करना चाहिये।

जिस भाँति गङ्गाके प्रवाहसे वह देश तथा भूमि, पातिव्रतके द्वारा स्त्री धन्य होती है, उसी प्रकार रघुवीरपरायण पुरुषके उत्पन्न होनेसे कुल धन्य हो जाता है, एक भी भगवत्-परायण भक्त कुलमें उत्पन्न हो गया तो वह जगत्पूज्य तथा सुपुनीत बन जाता है। जिस भाँति अपने धर्ममें अटल रहनेवाला ब्राह्मण जगत्पूज्य होता है, उसी भाँति रघुवीरपरायण कुल भी पूज्य है। जैसे दानसे धन, कर्मयोगसे बुद्धि, सत्सङ्गसे समय तथा द्विजभक्तिसे शूद्र पुनीत और परम पवित्र हो जाता है, उसी प्रकार राम-भक्तसे वह कुल, जिसमें वह उत्पन्न होता है, पवित्र हो जाता है। यथा—

तुलसी भगत श्वपच भलो, भजै रैन दिन राम।
ऊँचो कुल केहि काम को जहाँ न हरि को नाम ॥

जगद्गुरु श्रीशंकराचार्यने लिखा है—

दुर्लभं त्रयमेतद् वै देवानुग्रहहैतुकम्।
मनुष्यत्वं मुमुक्षुत्वं महापुरुषसंश्रयः॥

मानवता, मोक्षप्राप्तिकी इच्छा और महापुरुषोंका समाश्रय—ये तीन वस्तुएँ भगवत्कृपासे ही मिलती हैं। इसलिये मानव-शरीरसे हमें भगवान्को प्राप्त करनेका प्रयत्न करना है। मनुष्य-जीवन निरुद्देश्य नहीं है। इसका यही एक महान् लक्ष्य है जिसे प्राप्त करनेमें ही मानव-जीवनकी सफलता है।

हृदयमें रामभक्तिका सूर्योदय होते ही हमारे मनोविकारोंका, हमारी कामनाओं और वासनाओंका अन्धकार देखते-ही-देखते छूमंतर हो जाता है। जीवनके समस्त दुर्गुण दूर हो जाते हैं और अनायास ही सब सद्गुणोंका हमारे हृदयमें उदय हो उठता है। गोस्वामीजीके शब्दोंमें भगवान् श्रीराम कहते हैं—

सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं।
जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं॥

यहाँतक कि भगवद्भक्तके लिये जड प्रकृति भी आनन्द देनेवाली बन जाया करती है।

किएँ जाहिं छाया जलद सुखद बहइ बर बात।
तस मग भयउ न राम कहुँ जस भा भरतहि जात॥

रामभक्तकी सेवा साक्षात् भगवान्की पूजा है; क्योंकि संसारका प्रत्येक प्राणी इस विराट् भगवान्का अंश है। भगवान् जब समस्त प्राणियोंमें सदा वर्तमान हैं, तब सबकी पूजा, सबको सुख पहुँचाना ही भगवान्की पूजा है। इसी प्रकार किसी भी प्राणीसे द्रोह करना भगवान्से ही द्रोह करना है।

भगवान्के श्रीचरणोंके प्रेमकी प्राप्तिके लिये लिया जानेवाला एक नाम भी महान् कल्याणकारक होता है। खेतमें डाले गये सभी बीज नहीं जमते। न एक वाटिकामें लगाये गये सभी वृक्ष पल्लवित होते हैं; परंतु एक बार लिया हुआ भगवान्का नाम कभी व्यर्थ नहीं जाता।

गोस्वामीजीके शब्दोंमें—

जाय सो सुभट समर्थ पाइ रन रारि न मंडै।
जाय सो जती कहाय, विषय-वासना न छंडै॥
जाय धनिकु बिनु दान, जाय निर्धन बिनु धर्मंहि।
जाय सो पंडित पढ़ि पुरान जो रत न सुकर्महि॥
सुत जाय मातु पितु भगति बिनु, तिय सो जाय जेहि पति न हित।
सब जाय दास तुलसी कहै जो न राम पद नेहु नित॥

उस समर्थ वीर योद्धाका जीवन व्यर्थ है, जो संग्रामका अवसर पाकर युद्ध नहीं करता। उस संन्यासीका जीवन व्यर्थ है जो संन्यासी कहलाकर भी विषय-वासनाओंको नहीं छोड़ता। जो धनवान् होकर दान नहीं करता तथा जो निर्धन धर्मका आचरण नहीं करता उसका जीवन व्यर्थ है। जो पण्डित पुराण पढ़कर सत्कर्मोंमें रत नहीं, वह भी व्यर्थ है। माता-पिताकी भक्तिसे रहित पुत्र और पतिहितमें न लगी हुई स्त्रीका जीवन व्यर्थ है। और यदि श्रीरामचन्द्रजीके चरणोंमें नित्य निरन्तर प्रेम न हुआ तो इस मनुष्य-जीवनमें सभी कुछ व्यर्थ है।'

बस, यही मानव-जीवनका सार है, सच्ची मानवता है। इसी कार्यको पूरा करनेके लिये मानव-शरीर मिला है। मानव ही सृष्टिका श्रेष्ठ प्राणी है। परंतु हरि-भजनके बिना उसके इस श्रेष्ठत्वका कोई मूल्य नहीं। अतः श्रीगोस्वामीजीका यह कथन सर्वथा यथार्थ है—

सोइ पावन सोइ सुभग सरीरा।
जो तनु पाइ भजिअ रघुबीरा॥

यही मानव-जीवनका परम कर्तव्य है। इसके सिवा कल्याणका दूसरा कोई मार्ग नहीं।

'नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय'

स्वाध्याय

(लेखक—डाक्टर श्रीनरेन्द्रकुमारजी सेठी, एम्० ए०, पी-एच्० डी०, साहित्यरत्न)

चिन्तन और मनन आत्मशक्तिके दो अमर तत्त्व हैं। चिन्तन बाह्य उपकरणको आत्मसात् करता है और मनन आन्तरिक जिज्ञासाको पवित्र दिशाकी ओर उन्मुख करता है। दोनों वृत्तियोंके सम्मिश्रणसे स्वाध्याय-का उदय होता है जो सम्पूर्ण मानव-व्यक्तित्वको उन्नयन-की ओर केन्द्रित करनेमें समर्थ है।

भारतीय ऋषियों तथा आराधकोंने स्वाध्यायकी महिमाका सर्वत्र गान किया है। ब्रह्माण्डमें व्याप्त ज्ञान-की गरिमाको केवल स्वाध्यायके द्वारा ही ग्राह्य बनाया जा सकता है। इसके अतिरिक्त ऊर्ध्वशक्तिकी पावनता तथा व्यापकताका आभास भी स्वाध्यायके द्वारा ही सम्भव है।

स्वाध्याय-तत्त्वमें जिज्ञासुकी स्वाभाविकता और निष्कपट तटस्थताकी ओर संकेत है। इसमें अन्य पुरुष, केन्द्र या वृत्तिकी अपेक्षा नहीं, जो जिज्ञासुकी अध्ययन-शीलताको दिशा दे सके। यहाँ तो 'स्व' पर ही सम्पूर्ण चेतना स्थिर है। स्वाध्यायशील मनुष्य अपनी चिन्तन एवं मननवृत्तियोंका स्वयं ही विकास करता है।

स्वाध्याय एक अत्यन्त निर्मल प्रक्रिया है। एकाग्रता-के कारण स्वाध्यायरत व्यक्तिमें सात्त्विकताका उदय होता है। तटस्थताके कारण विवेककी प्राप्ति होती है। आत्मिक चेतनाके कारण ज्ञानज्योतिका दिव्य आलोक प्रकट होता है। इस प्रकार स्वाध्यायके प्रत्येक कर्म-सूचक 'अङ्गसे' किसी-न-किसी पुनीत भावनाका आविर्भाव सम्भव है।

स्वाध्यायका मूल उद्देश्य है—ब्रह्मज्ञान और प्राणीकी पारस्परिक दूरीको दूर करना। वे एकाग्रचित्त क्षण महान् और दिव्य हैं, जो सच्चिदानन्द परब्रह्म परमात्माकी असीम शक्ति एवं व्यापकताके आध्यात्मिक साहचर्यमें व्यतीत होते हैं। वे पुण्यक्षण वस्तुतः परम पुनीत और सनातन हैं, जो ब्रह्माण्डमें व्याप्त 'ॐ' के चरम निनाद और उद्घोषके मननमें व्यतीत होते हैं। यही स्वाध्याय-का चरम उत्कर्षमय स्वरूप है।

गोपीकी पुकार

आइये बेगि बिहाल भईं हम, लालन ! काल बितीत न कीजिये;
राखिये रीति बड़ेन की बालम ! ऐसी इतै अनरीत न कीजिये।
नीति निबाहिये नेह की प्रीतम ! जो न निबाहिये प्रीत न कीजिये,
हारक हो भवभीति के आप, हमैं बन मैं भयभीत न कीजिये॥
आँगन आइ सँजोग दियो जिन्हैं ताहि बियोग की आगि न जारौ,
कल्पसमान लगै पल अल्पहू आर्त-उबारनहार ! उबारौ।
पावत आपको सोइ कृपा करि जाकौं कत्यौं सरकार सकारौ,
धारन कीजै दया उर मैं गिरिधारन प्रान-अधार ! पधारौ॥

पाण्डेय रामनारायणदत्त शास्त्री 'राम' साहित्याचार्य

ऐश्वर्य और माधुर्य

(रचयिता—स्वामी श्रीजयरामदेवजी)

धनि-धनि श्रीरघुपतिकी लीला ।
एक ओर ऐस्वर्य अपरिमित, एक ओर माधुर्य रसीला ॥
पूरन ब्रह्म परात्पर बैभव, अगुन अजन्मा बेद बतावै ।
सो प्रभु घुटुरुन चलत अवधमें, मातु पलँगपर चढ़ि नहिं पावै ॥
धरि द्वैरूप प्रगट भोजन करि, दीन्हों रूप बिराट दिखाई ।
कौसल्या कर पकरि चलावति, प्रभु सों नेकु चल्यो नहिं जाई ॥
नाम अजेय बखानत सुर मुनि, कबहूँ कहूँ न जीते जाहीं ।
सो प्रभु खेलत गेंद सखन सँग, बार बार हारत हरषाहीं ॥
जिनकी प्रबल शक्ति सों नाचत, सकल जगत अरु रबि ससि तारे ।
सो प्रभु कौसल्याके आँगन, नाचत निज प्रतिबिम्ब निहारे ॥
जिनके चरन कमल ब्रह्मादिक, ध्यावत निसि-दिन ध्यान न आवैं ।
सो प्रभु गुरु-पद-पदुम पलोटत, प्रेम समेत भाव दरसावैं ॥
जिनको ध्यान धरत मन जय करि, मुनिजन देत मनोज निवारी ।
सो प्रभु कंकन किंकिनि धुनि सुनि, करत मदन भय सुधिहिं बिसारी ॥
महा बिसाल संभु धनु तोर्‌यौ, सब्द भयो जिमि पर्बत टूट्यो ।
सो प्रभु ब्याह समय मिथिलामें, कंपत कर कंकन नहिं छूट्यो ॥
जाकी माया बस सब लोकप, भ्रमत निरंतर जग भ्रम छायो ।
सोई मायापति परमेश्वर, मायामृगके पाछे धायो ॥
आयीं जबहिं सती सिय तनु धरि, लियो तुरत पहिचानि खरारी ।
सो सर्वज्ञ प्रिया बिन बिलपत, पूछत पंछिन बिपिन मझारी ॥
जाको नाम लेत ही छूटत, जमबंधन भवबंधन भारी ।
सो प्रभु रन महँ ब्याल पास बस, भये न आपु सकत निरुवारी ॥
रावनादि राच्छस संहारे, अस्तुति करत संभु सुरपालक ।
ब्रह्मा कह्यो आपु मम स्वामी, बोले प्रभु हम नरके बालक ॥
भक्तन हेत ललित लीला करि, अपनो प्रभु ऐस्वर्य छिपावैं ।
किमि बरनै 'जयरामदेव' गुन, गूढ़ चरित मन-ही-मन भावैं ॥

मानव-जीवनकी सफलता

(लेखक—श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

मनुष्य-जन्म बड़ा ही दुर्लभ है । इसकी प्राप्ति भगवान्‌की कृपासे भगवान्‌की प्राप्तिके लिये ही होती है । इस रहस्यको न समझकर जीवनके अमूल्य समयको जो लोग भोगोंके भोगनेमें और उनकी प्राप्तिकी चेष्टामें व्यर्थ खो देते हैं, यह उनकी बड़ी भारी भूल है; क्योंकि भोगोंके संग्रहमें और उनके भोगनेमें वस्तुतः सुख नहीं है, अज्ञानसे ही सुखकी प्रतीतिमात्र होती है । भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें कहा है—

अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ॥

(९ । ३३ वेंका उत्तरार्द्ध)

'इसलिये तू सुखरहित और क्षणभङ्गुर इस मनुष्य-शरीरको प्राप्त होकर निरन्तर मेरा ही भजन कर ।'

अतः साधकको चाहिये कि पूरी तरह सावधान होकर श्रद्धा-भक्तिपूर्वक निष्काम भावसे अपने मनको निरन्तर भगवान्‌के भजन-ध्यानमें लगावे । मृत्युका कोई भरोसा नहीं । इस शरीरका अचानक किसी भी क्षणमें नाश हो सकता है । फिर पश्चात्ताप करनेपर भी कार्यकी कोई सिद्धि नहीं होती । अतः न तो इसे सुखरूप समझकर विषयोंमें फँसना चाहिये और न इसे नित्य समझकर भगवत्प्राप्तिके साधनमें विलम्ब ही करना चाहिये । तत्काल श्रद्धा-प्रेमपूर्वक निष्कामभावसे भजन-स्मरणमें निरन्तर लग जाना चाहिये । नहीं तो, बड़ी भारी हानि हो सकती है । श्रुति कहती है—

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः ।
भूतेषु भूतेषु विचित्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति ॥

(के० उ० २ । ५)

'यदि इस मनुष्य-शरीरमें ही परमात्माको जान लिया तब तो बहुत ठीक है; यदि इस शरीरके रहते-रहते उसे नहीं जान पाया तो महान् विनाश है । यही सोचकर धीरपुरुष प्राणिमात्रमें परमात्माको समझकर इस लोकसे प्रयाण करके अमृतस्वरूप परमात्माको प्राप्त हो जाते हैं ।'

प्रजाको उपदेश देते समय भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने भी मनुष्य-शरीरकी दुर्लभताका और इसकी महिमाका वर्णन करते हुए कहा है—

बड़ें भाग मानुष तनु पावा । सुर दुर्लभ सब ग्रंथन्हि गावा ॥
साधन धाम मोच्छ कर द्वारा । पाइ न जेहिं परलोक सँवारा ॥

सो परत्र दुख पावइ सिर धुनि धुनि पछिताइ ।
कालहि कर्महि ईस्वरहि मिथ्या दोस लगाइ ॥

एहि तन कर फल बिषय न भाई । स्वर्गउ स्वल्प अंत दुखदाई ॥
नर तनु पाइ बिषयँ मन देहीं । पलटि सुधा ते सठ बिष लेहीं ॥

अतएव मनुष्य-शरीरका महत्त्व समझकर साधकको अपने जीवनका सदुपयोग करना चाहिये । गया हुआ समय फिर किसी प्रकार भी वापस नहीं आ सकता ।

जो लोग काल, प्रारब्धकर्म और ईश्वरपर दोष लगाते हैं, उनका वह दोष लगाना सर्वथा मिथ्या है; क्योंकि कलियुगके समान कोई उत्तम काल नहीं है । तुलसीदासजी कहते हैं—

कलिजुग सम जुग आन नहिं जौं नर कर बिस्वास ।
गाइ राम गुन गन बिमल भव तर बिनहिं प्रयास ॥

इसी प्रकारसे प्रारब्धके विषयमें भी श्रीतुलसीदासजीने कहा है कि बड़े भाग्यसे मनुष्यका शरीर मिलता है जो कि देवताओंके लिये भी दुर्लभ है । यही बात सत्-शास्त्रोंमें आयी है । और ईश्वरपर दोष लगाना तो बड़ी भारी मूर्खता है ही ।

कबहुँक करि करुना नर देही । देत ईस बिनु हेतु सनेही ॥

अतः संसारसागरसे उद्धार न होनेमें स्वयं अपना ही दोष है और इसका सुधार भी अपने आपको ही करना चाहिये ।

आत्माके उद्धारके लिये भारतभूमि सर्वोत्तम देश है, कलियुगका समय सर्वोत्तम काल है, मनुष्यका शरीर सर्वोत्तम योनि है तथा सत्पुरुषोंका और सत्-शास्त्रोंका सङ्ग ही सर्वोत्तम सङ्ग है । इन सबको पाकर भी जो अपना कल्याण नहीं करता, उसे बहुत भारी पश्चात्ताप करना पड़ेगा । श्रीतुलसीदासजीने कहा है—

जो न तरै भव सागर नर समाज अस पाइ ।
सो कृत निंदक मंदमति आत्माहन गति जाइ ॥

साधकको अपनी दशाका अध्ययन करना चाहिये तथा अपने भूतकालके आचरणोंकी तरफ देखकर निराश और निरुत्साहित नहीं होना चाहिये । नीच-से-नीच प्राणी भी यदि प्रभुपर विश्वास करके उनका आश्रय लेकर भगवान्‌के भजन-स्मरणमें तत्परतासे लग जाय तो उसका भी शीघ्र ही सुधार होकर उद्धार हो सकता है । भगवान्‌ने स्वयं कहा है—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति ।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥
(गीता ९ । ३०-३१)

'यदि कोई अतिशय दुराचारी भी अनन्य भावसे मेरा भक्त होकर मुझको भजता है तो वह साधु ही मानने योग्य है; क्योंकि वह यथार्थ निश्चयवाला है । अर्थात् उसने भलीभाँति निश्चय कर लिया है कि परमेश्वरके भजनके समान अन्य कुछ भी नहीं है ।

'वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और सदा रहनेवाली परमशान्तिको प्राप्त होता है । हे अर्जुन ! तू निश्चयपूर्वक सत्य जान कि मेरा भक्त नष्ट नहीं होता ।'

इसलिये साधकको श्रद्धा, विश्वास और प्रेमपूर्वक शीघ्र-से-शीघ्र तत्परताके साथ भगवान्के भजन-चिन्तनमें लग जाना चाहिये । अपने जीवनके एक क्षणको भी व्यर्थ नहीं जाने देना चाहिये । हर एक काम भगवान्के आज्ञानुसार उनकी ही प्रसन्नताके लिये करना चाहिये । अपने वर्ण, आश्रम और जातिकी हीनताकी ओर ख्याल करके भी साधकको किसी प्रकार निराश नहीं होना चाहिये; क्योंकि मनुष्य चाहे किसी भी वर्ण, आश्रम और जातिका क्यों न हो, प्रभुकी शरण लेकर उस शरणागतिके प्रभावसे उसका शीघ्र उद्धार हो सकता है । जैसा कि श्रीगीताजीमें भगवान्ने स्वयं कहा है—

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥
(९ । ३२)

'हे अर्जुन ! स्त्री, वैश्य, शूद्र तथा पापयोनि—चाण्डालादि जो कोई भी हों, वे भी मेरे शरण होकर परमगतिको ही प्राप्त होते हैं ।' भगवान्की भक्तिमें किसी प्रकारकी कठिनाई या असमर्थता भी नहीं है । हर एक मनुष्य हर एक परिस्थितिमें भक्तिका साधन कर सकता है । भगवान्की भक्तिका मार्ग बहुत ही सुगम है । भगवान्ने स्वयं कहा है—

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥
यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥
शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः ।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ॥
(९ । २६-२८)

'जो कोई भक्त मेरे लिये प्रेमसे पत्र-पुष्प-फल-जल आदि अर्पण करता है उस शुद्धबुद्धि निष्काम प्रेमी भक्तका प्रेमपूर्वक अर्पण किया हुआ वह पत्र-पुष्पादि मैं सगुणरूपसे प्रकट होकर प्रीतिसहित खाता हूँ । हे अर्जुन ! तू जो कर्म करता है, जो खाता है, जो हवन करता है, जो दान देता है और जो तप करता है वह सब मेरे अर्पण कर । इस प्रकार जिस साधनमें समस्त कर्म मुझ भगवान्के अर्पण होते हैं, ऐसे संन्यासयोगसे युक्त चित्तवाला तू शुभाशुभ फलरूप कर्मबन्धनसे मुक्त हो जायगा और उनसे मुक्त होकर मुझको ही प्राप्त होगा ।'

इस प्रकार भगवान्की भक्तिकी महत्ता और सुगमताको समझकर साधकको भगवान्से अपना नित्य सम्बन्ध जानकर सर्वथा उनका हो जाना चाहिये और निरन्तर उनका चिन्तन करना चाहिये । निरन्तर उनका चिन्तन करनेसे भगवान्की प्राप्ति सुगम है । भगवान्ने श्रीगीताजीमें कहा है—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥
(८ । १४)

'हे अर्जुन ! जो पुरुष मुझमें अनन्यचित्त होकर सदा ही निरन्तर मुझ पुरुषोत्तमको स्मरण करता है, उस नित्य निरन्तर मुझमें युक्त हुए योगीके लिये मैं सुलभ हूँ अर्थात् उसे सहज ही प्राप्त हो जाता हूँ ।'

विचार रखना चाहिये कि भगवान्की भक्तिके समान अपने कल्याणके लिये दूसरा कोई भी उत्तम साधन नहीं है । गीतामें कहा है—

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥
(६ । ४७)

'सम्पूर्ण योगियोंमें भी जो श्रद्धावान् योगी मुझमें लगे हुए अन्तरात्मासे मुझको निरन्तर भजता है, वह योगी मुझे परम श्रेष्ठ मान्य है ।' थोड़ा विचार करनेपर मनुष्य

समझ सकता है कि परिस्थिति, अवस्था, पदार्थ आदि जो कुछ प्राप्त है, सभी अनित्य हैं। उनका आधार लेनेवाला, उनको अपना माननेवाला कोई भी मनुष्य साधनमें तत्पर नहीं हो सकता। ये सब भगवान्‌के विधानके अनुसार मिलते और नष्ट होते रहते हैं। प्रभुकी प्रसन्नताके लिये उन पदार्थोंका सदुपयोग करते रहना चाहिये। उनसे सम्बन्ध जोड़कर उनके द्वारा सुख भोगनेकी इच्छा करना पतनका मार्ग है; क्योंकि उनमें सुख है ही नहीं। उनमें जो सुखकी प्रतीति होती है वह भ्रान्तिसे होती है। अतः उनमें ममता-आसक्ति नहीं करनी चाहिये। उनमें ममता और आसक्ति रखनेवाला कोई भी मनुष्य शान्ति प्राप्त नहीं कर सकता। अतः साधकको इनमें राग, द्वेष, ममता, भय और कामनाका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये। इन सबका त्याग करके श्रद्धा-प्रेमपूर्वक भगवान्‌के भजन-स्मरणमें तत्परताके साथ हमलोगोंको लग जाना चाहिये। जो कुछ भी पदार्थ भगवान्‌की कृपासे मिले हैं, उन सबको हमें केवल भगवान्‌की ही सेवामें लगाना चाहिये। सबकी सेवा भगवान्‌की ही सेवा है। सबको भगवान्‌का स्वरूप समझकर या सबमें भगवान्‌को व्यापक समझकर सबकी सेवा करना भगवान्‌की ही सेवा करना है। गीता अध्याय ७ श्लोक १९ में भगवान्‌ने कहा है कि 'सब मेरे ही स्वरूप हैं।

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥

'बहुत जन्मोंके अन्तके जन्ममें तत्त्वज्ञानको प्राप्त पुरुष, सब कुछ वासुदेव ही है—इस प्रकार मुझको भजता है, वह महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है।' भगवान् सबमें व्यापक हैं। यह बात गीता आदि शास्त्रोंमें जगह-जगह बतलायी गयी है। जैसे गीता अध्याय ८ श्लोक २२वेंमें बताया गया है और गीता अध्याय १८ श्लोक ४६वेंमें भी कहा है—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

'जिस परमेश्वरसे सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति हुई है और जिससे यह समस्त जगत् व्याप्त है, उस परमेश्वरकी अपने स्वाभाविक कर्मोंद्वारा पूजा करके मनुष्य परमसिद्धिको प्राप्त हो जाता है।'

इसलिये सबमें भगवान्‌को व्यापक समझकर अपने-अपने कर्त्तव्य कर्मके अनुसार सबकी सेवा, पूजा, आदर-सत्कार करना भगवान्‌की ही पूजा है। अतः सबमें भगवद्-भावसे सबकी सेवा करना बहुत उत्तम साधन है। इसलिये जो कुछ भी किया जाय, स्वार्थसे रहित होकर सबके हितके उद्देश्यसे और निष्काम भावसे करना चाहिये। इसीमें जीवनकी सफलता है।

विषयासक्ति और भगवत्प्रेममें भेद

(स्वामीजी श्रीरामसुखदासजी महाराजके प्रवचनसे)

आसक्ति	प्रीति	आसक्ति	प्रीति
१ अनित्य	नित्य	१४ अशान्ति	शान्ति
२ उत्पन्न	अनुत्पन्न	१५ भयदा	अभयदा
३ अविवेकसिद्ध	विवेकसिद्ध	१६ आदि-अन्तमें नीरस	सदा रसवर्द्धिनी
४ घटती, बढ़ती, मिटती है	केवल बढ़ती ही है	१७ सबसे निरादर कराती है	भगवान्‌से भी आदर कराती है
५ सीमित	असीम	१८ मलिनता	शुद्धि
६ परिच्छिन्न	अपरिच्छिन्न	१९ चिन्ता देती है	निश्चिन्त करती है
७ बाँधती है	मुक्त करती है	२० पतन करती है	उत्थान
८ मृत्यु देती है	अमर करती है	२१ औरोंके लिये भी दुःखद	यह भगवान्‌के लिये भी सुखद
९ पराधीन करती है	स्वाधीन करती है	२२ सदोष	निर्दोष
१० एकतामें अनेकता दिखाती है	अनेकतामें एकता दिखाती है	२३ लेना-ही-लेना	देना-ही-देना
११ रोना	हँसना	२४ अप्राप्त	प्राप्त
१२ अप्रसन्नता	प्रसन्नता	२५ कृत्रिम	सहज
१३ दुःख	सुख	२६ जड़ता	चिन्मयता

मुनेशके पुनर्जन्मकी घटनाका विवरण

पैरासाइकालाजी विभाग, राजस्थान-विश्वविद्यालय, जयपुर पुनर्जन्मकी घटनाओंका अध्ययन एवं संग्रह करता है। पुनर्जन्मकी प्रस्तुत घटना कई विशेषताओंके कारण विशेष उल्लेखनीय है। यह घटना आश्चर्यचकित करनेवाली कई बातोंपर प्रकाश डालती है। बालक मुनेश अपने पूर्व-जन्मके व्यक्तित्व भजनसिंहसे बहुत अधिक समानताएँ रखता है और दावा करता है कि वह वास्तवमें भजनसिंह ही है, मुनेश नहीं। भजनसिंह और उसकी धर्मपत्नीके वैवाहिक जीवनकी गुप्त बातें एवं उसके परम मित्र भगवतीके साथ हुई उसकी बातें बताना और उसकी पत्नीद्वारा बातोंका समर्थन किया जाना इस बातके पक्षमें है कि यह घटना पुनर्जन्मकी ही है।

घटनाका विवरण

अलीगढ़ जिलेके इटर्नी नामक ग्राममें आजसे प्रायः १२ वर्ष पूर्व साँभरसिंहके पुत्र भजनसिंहकी मृत्यु ज्वरके कारण हो गयी थी। उधर चाँदगढी नामक ग्राममें श्री-वीरेन्द्रपालसिंहके परिवारमें एक बालकने जन्म लिया। बालकका नाम मुनेश रक्खा गया। जब वह प्रायः ४ वर्षका था, तो वह अपने साथियोंसे अठ्ठनी नामक ग्रामका जिक्र किया करता था। एक दिन उसे नहलाते समय उसकी माँने उसको एक चाँटा मारा, जिसपर वह बोला 'माँ! मुझे मत मारो। मैं अपने गाँव अठनी चला जाऊँगा। मेरा नाम भजनसिंह है, मैं उस गाँवका रहनेवाला हूँ। मेरे घरपर मेरी माँ, पत्नी, भाई और एक लड़की है। मेरा एक मकान, एक कुआँ, एक बाग और एक खेत है।' उसकी माँने बालककी बातोंपर कोई ध्यान नहीं दिया और मार-पीटकर बालकको शान्त करा दिया। जब वह अठ्ठनी आदि कहता था तो उसके घरवाले उसकी बातोंका कोई अर्थ न समझ सके। उसकी बातोंपर गौर करनेपर पता चला कि उसका मतलब 'इटर्नी' ग्रामसे है। बालक होनेके कारण गाँवका नाम वह सही-सही न बता सका।

बड़े होनेपर वह कहता था कि वह इटर्नी ग्रामका रहने-वाला है। उसका नाम भजनसिंह है। उसकी पत्नी और एक लड़की है। उसके मित्र उसकी बातें सुनकर हँसा करते थे।

चेचकसे ठीक होनेपर एक दिन शामको वह अपनी चाचीके मकानमें एक बिस्तरेपर लेटा था। जब उसके बाबा वहाँ आये, तो वह उनसे बोला—'बाबा! मेरी माँ मुझे मारती है। मैं अपने घर जाऊँगा।' पूछे जानेपर उसने अपने ग्रामका नाम इटर्नी बताया। रातको जब बालकके दूसरे बाबा ठाकुर नेत्रपालसिंह आये, तो बालकने वही बातें उनसे भी कहीं।

उधर नानूके पुलपर नबीपुरनिवासी ठाकुर क्षेत्रपालसिंह-को मुनेशने देखा। उस दिन नानूके पुलपर पैंठ भरी हुई थी। कहा जाता है कि बालकने उन्हें तुरंत पहचान लिया और उनका नाम लेकर उन्हें आवाज दी तथा नमस्ते की। संयोगवश अलीगढ़में ठाकुर नेत्रपालसिंह ठाकुर क्षेत्रपालसिंहसे मिले और पूछा कि 'क्या वे भजनसिंह नामक नवयुवकको जानते हैं जो नबीपुरमें प्राइमरीतक पढ़ा था और जो बादमें आगरामें इन्टर तक पढ़ा था?' मुनेशने भजनसिंहके बारेमें जो-जो बातें बतायी थीं, वे सभी बातें उन्होंने श्रीक्षेत्रपालसिंहको बतायीं। उन्होंने यह भी कहा कि उन्हें बालकने नानूके पुलपर पहचाना था।

ठाकुर क्षेत्रपालसिंह कुछ देरतक याद करते रहे और फिर बोले कि उन्हें कुछ-कुछ याद पड़ता है कि एक लड़का भजनसिंह नामका नबीपुरमें प्राइमरीतक पढ़ता था, लेकिन यह नहीं मालूम कि वह इन्टरतक बादमें आगरामें पढ़ा था या नहीं। उन्होंने बताया कि भजनसिंहके जीवनके विषयमें उन्हें और कुछ मालूम नहीं है। उन्होंने वादा किया कि वे अपने गाँव पहुँचकर भजनसिंहके बारेमें और अधिक जानकारी भिजवायेंगे। लेकिन पंचायतके चुनावोंके कारण क्षेत्रपाल-सिंह ऐसा न कर सके।

इधर ठाकुर नेत्रपालसिंहको किसी निजी कामसे जमालपुर जाना था। जमालपुर जाते हुए मार्गमें इटर्नी ठहरना उन्होंने ठीक समझा। रास्तेमें उन्होंने मुनेशद्वारा कही गयी बातोंकी जाँच करनेका निश्चय किया। चाँदगढीसे चलते समय उनके साथ उनके भतीजेके साले भी थे। हंसायन पहुँचकर उन्होंने इटर्नीका रास्ता पूछा; क्योंकि उन्हें रास्ता मालूम नहीं था। जब वे रास्ता पूछ रहे थे तो उन्हें एक ब्राह्मणका लड़का मिला जो उन्हें गाँव ले गया और उसने भजनसिंहका मकान दिखा दिया; क्योंकि उनके मकानमें कोई पुरुष न था। इसलिये नेत्रपालसिंहको भजनसिंहके भाई थानसिंहकी

दूकानपर जाना पड़ा। नेत्रपालसिंहने थानसिंहसे कहा कि 'उनके परिवारके एक बालकने अपने-आपको भजनसिंह कहा है।'

कुछ दिनोंके बाद भजनसिंहके भाई भूरेसिंह और उसके साले चाँदगढ़ी गये। मुनेशको स्कूलसे बुलवाया गया। उसने तुरंत अपने भाई भूरेसिंहको पहचान लिया और नमस्ते की, लेकिन दूसरे व्यक्तिकी ओर देखा तक नहीं। बालक शोकसे विचलित हो गया और उसकी आँखोंमें आँसू भर आये। भूरेसिंहने अपने सम्बन्धियोंके विषयमें उससे कई प्रश्न पूछे, जिनका मुनेशने सही-सही उत्तर दिया। उसने अपने मित्र भगवतीके विषयमें भी बताया। मुनेशने यह भी बताया कि उसका एक मकान है। भूरेसिंहने नेत्रपालसिंहसे आग्रह किया कि उस बालकको इटर्नी ले जाया जाय।

कुछ दिनोंके बाद भजनसिंहकी पत्नी और उसकी दौरानी डिबोदेवी चाँदगढ़ी गयी। वे दोनों घूँघटमें थीं। गाँवके काफी लोग वहाँ जमा थे। मुनेशसे उन दोनों महिलाओंमें अपनी माँको पहचाननेके लिये कहा गया। मुनेशने उत्तर दिया कि 'उसकी माँ उनमें नहीं है, अपितु इशारा करते हुए वह बोला कि 'उनमें उसकी पत्नी और उसकी भाभी हैं।' बालकको दोनों महिलाओंके साथ मकानके अंदर ले जाया गया। भजनसिंहकी पत्नी अयोध्यादेवी मुनेशको एक एकान्त स्थानमें ले गयी और उससे किसी ऐसी गुप्त बात कहनेके लिये कहा जो कि केवल उन दोनोंके बीचमें हुई हो और जिसके बारेमें किसी भी बाहरके या परिवारके लोगोंको पता न हो। मुनेशने बताया कि 'वह जब आगरेसे इन्टरकी परीक्षा देकर आया था तो उसकी माँ और पत्नीमें झगड़ा हुआ था, जिसके फलस्वरूप नाराज होकर उसने 'रई'से प्रहार किया था जिसके कारण रईका ऊपरी भाग टूट गया था और पत्नीके हाथमें निशान पड़ गया था।' अब अयोध्यादेवीको पक्का विश्वास हो गया कि वह वास्तवमें उसका पति ही है।

दूसरे दिन इटर्नी जाते समय दोनों महिलाओंने प्रार्थना की कि बालकको उनके साथ भेज दिया जाय। बालकको अनुमति दे दी गयी। हंसायन पहुँचकर एक ताँगा किया गया, जिसे इटर्नीसे तीन फर्लांग दूर छोड़ दिया गया। बालकसे कहा गया कि 'यदि वह भजनसिंह है तो वह अपने घर ले जाय और रास्ता और मकान पहचान ले।' बालक सीधा घर पहुँच गया और वहाँ पहुँचकर अपनी माँकी गोदमें बैठ गया। वहाँ उसने अट्टा, अपनी किताबें, अलमारी, मकानके कमरे, कुँआ और खेत आदि पहचान लिये। कुछ दिन वहाँ रहनेके बाद वह चाँदगढ़ी लौट आया।

मुनेशने भजनसिंहकी ससुराल जानेका आग्रह किया, लेकिन उसे नहीं जाने दिया गया। कुछ दिनोंके बाद जब उसका भाई भूरेसिंह वहाँ आया तो पूछनेपर मालूम हुआ कि मुनेशद्वारा बताया गया ससुरालका पता ठीक था। मुनेशको भजनसिंहकी ससुराल बिसारा भी ले जाया गया, जहाँपर उसने भजनसिंहकी सास और दूसरे सम्बन्धियोंको तथा गाँवके अन्य लोगोंको पहचाना। भजनसिंहके मरनेके बाद घरमें जो परिवर्तन किये गये थे, उसने उनका भी जिक्र किया।

जब टुडंलासे भजनसिंहकी बहिन आयी तो उसने उसको भी पहचान लिया। मुनेश अब भी अपनी पत्नी और पुत्रीसे घनिष्ठ प्रेम करता है और चाँदगढ़ीको छोड़कर इटर्नी जाना चाहता है।

मुनेश और भजनसिंहके व्यवहारमें आश्चर्यजनक समानताएँ हैं। यद्यपि उसे कई बार पीटा गया और ऐसा कहनेके लिये मना किया गया; किंतु बालकने एक न सुनी। भजनसिंहके भाई भूरेसिंहको देखते ही उसकी आँखोंमें आँसू भर आये और वह उसे पहुँचाने नानूके पुलतक गया। भजनसिंहकी पत्नी और भाभीके आनेपर उसने भावपूर्ण व्यवहार किया और रातको अयोध्यादेवीके साथ सोनेपर उसने वैसी ही चेष्टाएँ कीं, जैसी उसके पति भजन-सिंह किया करते थे। पत्नीके इटर्नी लौटते समय वह उसके साथ जानेको तैयार हो गया।

घटनाओंकी खोज

पैरासाइकोलाजी विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर पूर्वाग्रह होकर वैज्ञानिक रीतिसे इस समस्याके व्यावहारिक पक्षका अध्ययन कर रहा है। विभाग इस प्रकारकी घटनाओंसे सम्बन्धित मत-मतान्तरोंके प्रति किसी प्रकारका आग्रह नहीं रखता है। अतः फिलहाल इस प्रकारकी घटनाओंको पुनर्जन्मकी घटनाएँ कहना अधिक उपयुक्त न समझकर 'अति-मस्तिष्क स्मृति' (Extra-Cerebral Memory) की घटनाएँ कहना अधिक अच्छा समझता है। जबतक इस प्रकारकी अनेक घटनाओंके

अध्ययनके फलस्वरूप किसी निष्कर्षपर नहीं पहुँचा जाता, तबतक यह कहना कठिन है कि ये घटनाएँ क्यों और कैसे होती हैं। इस समस्याका और भी पूर्णरूपसे अध्ययन किया जाय, इसके लिये जरूरी है कि पाठकोंद्वारा विभागके पास अधिक-से-अधिक घटनाओंकी सूचना भेजी जाय एवं घटनाओंके अध्ययनके लिये पर्याप्त साधन उपलब्ध हों। अतः पाठक महानुभावोंसे निवेदन है कि वे घटनाओंकी सूचना निम्न पतेपर भेजनेका कष्ट करें—

(प्रोफेसर हेमेन्द्र बनर्जी, संचालक, पैरासाइकोलाजी विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर 'राजस्थान')

तुलसीके शब्द

(लेखक—डाक्टर श्रीहरिहरनाथजी हुक्कू एम्० ए०, डी० लिट०)

(२)

[गताङ्क पृष्ठ १२२८से आगे]

शब्दोंका एक अपना ही संसार है। उसमें रंग है, रस है, स्मृतियाँ हैं, स्वप्न हैं, उमंगें हैं, भाव-चञ्चलता है, प्यार है, योग है तथा वियोग है। जैसे रत्नहारकी सुन्दरता रत्नोंके रंग या उनके पानी अथवा उनके पहलुओंपर ही निर्भर नहीं करती, बल्कि इस बातपर भी निर्भर करती है कि वे रत्न एक दूसरेकी सुन्दरताको किस प्रकार निखारते हैं, कैसे उनके रंग, उनकी बनावट और उनको जड़नेका ढंग एक दूसरे रत्नकी सौन्दर्य-वृद्धि करता है। वैसे ही शब्दोंका अर्थ-मूल्य समझनेके लिये यह जानना आवश्यक है कि किसने वे शब्द कहे और किस स्थितिमें। उदाहरणार्थ एक छोटा-सा वाक्य लीजिये—एक तीन शब्दोंका वाक्य—'कान्हा नहीं आये।' अगर दोपहरका समय है और नन्दबाबा कहते हैं 'कान्हा नहीं आये' तो बस, यही सीधा-सा अर्थ होगा कि दोपहर हो गया, कान्हा आये नहीं, खैर आते होंगे। अगर रात्रि ढल चली है और कृष्ण पक्ष है और यशोदा रानीके मुँहसे ये शब्द निकले 'कान्हा नहीं आये' तो इनके अर्थमें बेचैनी होगी, चित्तका उद्वेग होगा, घबराहट होगी, माँके दिलकी धड़कन होगी। 'क्या बात है, गोधूलि बेलामें आनेवाले प्यारे कान्हा अभीतक नहीं आये !!' अगर गागर लिये कुँएपर किसी गोपीके मुँहसे ये शब्द निकलें—'कान्हा नहीं आये' तो इसमें इंतजारका मीठा मजा है, जिसमें मग्न होकर, डूबकर, वह भोली गोपी पानी भरना भी भूल गयी !! अगर चाँदनी है, अर्द्धरात्रि निकल चुकी है, कुंजमें गोपी अकेली खड़ी प्रतीक्षा करते-करते थककर आह भरकर बोल उठी, 'कान्हा नहीं आये' तो इसमें प्रतीक्षा अन्त न होनेका दुःख होगा, वियोगकी वेदना होगी, बार-बार विश्वासघात करनेवाले कान्हाके प्रति उलाहना होगा—'आखिरकार कान्हा धोखा दे ही गये, नहीं ही आये।' यदि यमुना-तीरपर श्यामसुन्दरकी प्रतीक्षामें गोपियाँ खड़ी हैं और राधा आती हैं—मुस्कराती हुई—जिसमें नटखटपनकी झलक है और बेचैन गोपियोंकी शिकायतपर राधा मुस्कराकर कहती हैं 'कान्हा नहीं आये' और फिर हँस देती हैं तो इसका अर्थ होगा कि 'कान्हा आयेंगे कैसे ? मैंने उनकी बाँसुरी ऐसी छिपायी है कि लाला ढूँढ़ते-ढूँढ़ते परेशान न हो जायँ तो मेरा नाम राधा नहीं' और अगर पूर्णिमा है, अमृत बरस रहा है, सघन कुंज है, कभी किसी गोपीके गानका स्वर सुनायी देता है, कभी किसी गोपीके मंजीरेके मधुर स्वर और कभी एकदम सब चुप हो जाती हैं और रात्रिका सन्नाटा सबको अपने अंकमें समेट लेता है। बस, श्यामसुन्दरकी प्रतीक्षा है और एक गोपी दौड़ती हुई आती है और कहती है कि श्याम अन्य गोपियोंके साथ दूसरे कुंजमें रास कर रहे हैं, तब अगर राधाके मुँहसे ये शब्द निकलें 'कान्हा नहीं आये' और यह कहकर वे बेहोश हो जायँ तो इस समयके राधाके इन तीन शब्दोंकी तीव्र भावनाको कौन समझा सकता है ? इनमें विरहकी अति होगी, मानिनीकी मान-हानिका अकथ दुःख, कान्हाके वचन-भङ्गकी निष्ठुर कहानी !!

इस प्रकार हम देखते हैं कि शब्द वे तीन ही हैं परंतु बोलनेवालेकी स्थितिके कारण उनके अर्थमें बड़ा अन्तर पड़ जाता है। इसका विचार मानस-जैसे अद्वितीय काव्यमें रखना आवश्यक है, जहाँ शब्दोंके अर्थ राम-कहानीको वैसे ही रञ्जित करते रहते हैं, जैसे क्षितिजको उषाके रंग।

उदाहरणार्थ सुन्दरकाण्डकी एक अर्धाली ले लीजिये—

कहहु तात केहि भाँति जानकी । रहति करति रच्छा स्वप्रान की ॥

ये वचन रघुनाथजीके हैं। जब—

पवन तनय के चरित सुहाए । जामवंत रघुपतिहि सुनाए ॥

तब पवनसुतकी करनी तो रघुनाथजीको मालूम हो गयी; परंतु सीताजीका हाल जाम्बवन्त नहीं कह सके; क्योंकि जाम्बवन्त स्वयं लंका नहीं गये थे और न उनका साक्षात्कार सीताजीसे हुआ था। सीताजीका आँखों-देखा हाल पवनसुत ही कह सकते थे। इसलिये रघुनाथजीने पवनतनयसे सीताजीका कुशल-समाचार पूछा। परंतु किष्किन्धाकाण्डमें जब विप्ररूप धरकर पवनतनय श्रीराम और लक्ष्मणसे यह जाननेके लिये मिले कि ये 'पुरुष जुगल बल रूप निधाना'—कौन हैं, तब रघुनाथजीने सीताजीके लिये 'बैदेही' शब्दका प्रयोग किया था।

इहाँ हरी निसिचर बैदेही । बिप्र फिरहिं हम खोजत तेही ॥

लेकिन सुन्दरकाण्डमें सीताजीका कुशल-प्रश्न करते समय श्रीराघवेन्द्रने 'जानकी' शब्द व्यवहार किया। अगर यहाँ भी 'बैदेही' कह देते तो क्या हानि थी ? 'जानकी' का उपयोग यहाँ किस कारणसे हुआ ?

इसका रहस्य समझनेके लिये यह ध्यानमें रखना होगा कि श्रीराघवेन्द्रकी इस समय मानसिक दशा क्या थी ? करुणानिधान प्रभु सीता महारानीका कुशल-प्रश्न कर रहे हैं परंतु इस कुशल-प्रश्नकी भूमिका क्या है ? यह जाननेके लिये हमें किष्किन्धाकाण्ड जाना होगा। जब लक्ष्मणके साथ सुग्रीव रघुनाथजीके पास आये और विनम्रभावसे प्रभुके कार्य-विस्मरणकी क्षमा-याचना की—

तब रघुपति बोले मुसुकाई । तुम्ह प्रिय मोहि भरत सम भाई ॥
अब सोइ जतन करहु मन लाई । जेहि बिधि सीता कै सुधि पाई ॥
एहि बिधि होत बतकही आए बानर जूथ ।
नाना बरन सकल दिसि देखिअ कीस बरूथ ॥
कह सुग्रीव सबहि समुझाई ।
राम काजु अरु मोर निहोरा । बानर जूथ जाहु चहुँ ओरा ॥
जनकसुता कहुँ खोजहु जाई ।...

परंतु इसके बाद कुछ चुने हुए व्यक्तियोंको कपिराजने अपने पास बुलाया—

सुनहु नील अंगद हनुमाना । जामवंत मतिधीर सुजाना ॥
सकल सुभट मिलि दच्छिन जाहू ।

जब कपीश उन्हें समझा-बुझा चुके, तब वे—

आयसु मागि चरन सिरु नाई । चले हरषि सुमिरत रघुराई ॥

इन गिने-चुने व्यक्तियोंमेंसे भी प्रभुने पवनतनयको विशेष प्रकारसे निकट बुलाया।

परसा सीस सरोरुह पानी । कर मुद्रिका दीन्ह जन जानी ॥

और निज 'जन' जानकर ही पवनतनयसे अपने हृदय-की बात कही और सीताजीके लिये गुप्त संदेश भी दिया। और अन्तमें कहा—

बहु प्रकार सीतहि समुझाएहु । कहि बल बिरह बेगि तुम्ह आएहु ॥

यहाँ दो शब्द ध्यान देने योग्य हैं 'बिरह' और 'बेगि'। श्रीराघवेन्द्र विरही प्रेमीकी लीला कर रहे हैं। प्रियाके विरहमें वे जल रहे हैं—रात-दिन जल रहे हैं। उनका कहना है—

नव तरु किसलय मनहुँ कृसानू । कालनिसा सम निसि ससि भानू ॥
कुबलय बिपिन कुंत बन सरिसा । बारिद तपत तेल जनु बरिसा ॥
जे हित रहे करत तेइ पीरा । उरग स्वास सम त्रिबिध समीरा ॥

इस विरह-प्रज्वलित दशामें वे यही चाहते हैं कि सीताजीकी सुधि लेकर, उन्हें रघुनाथजीका संदेश सुनाकर और इसका उत्तर लेकर पवनसुत जल्दी-से-जल्दी वापस आवें। इसीलिये उन्होंने कहा—

'बेगि तुम्ह आएहु'

प्रियतमाका विरह नटवर श्रीराघवेन्द्रको असह्य हो रहा है।

उपर्युक्त दूत-प्रेषण-प्रसङ्गमें रघुनाथजीने जनकसुताका 'सीता' नाम ही प्रयोग किया है—'सीता' राम-वल्लभाके अर्थमें। परंतु जब पवनतनय लंकामें सीताजीका पता लगा आये, उनसे साक्षात्कार कर आये, प्रभुकी सहदानी मुद्रिका उन्हें दे आये और सीताजीका संदेशा लाकर रघुनाथजीके सम्मुख उपस्थित हुए, तब करुणानिधानके हृदयमें जनकसुताके प्रति प्रेम उमड़ पड़ा, उनकी प्रियतमाकी याद भड़क उठी, उनका अपना अकथ प्रेम-प्लावित संदेश भेजना याद आया और उन विरह-प्रज्वलित नटवरको याद आयीं 'जानकी' जो थीं—

अतिसय प्रिय करुनानिधान की ॥

जिनसे उनका जनक-वाटिकामें मधुर मिलन हुआ था और जिनके सुमन-वाटिकासे जानेपर—

प्रभु जब जात जानकी जानी । सुख सनेह सोभा गुन खानी ॥
परम प्रेममय मृदु मसि कीन्ही । चारु चित्त भीतीं लिखि लीन्ही ॥

जो चित्र हृदय-भीतिपर अटल, अमिट और अमर हो गया था । 'जानकी' शब्दमें श्रीराघवेन्द्रके बालपनके प्रेमकी स्मृति है । लंकासे आये पवनतनयको देखकर राघवको अपना प्रेम-संदेश याद आया, प्रियतमा याद आयीं, वह 'सुख सनेह सोभा गुन खानी' याद आयीं जो 'नव रसाल बन बिहरन सीला' थीं, जिनके 'चरन कमल मृदु मंजु' ने प्रेमवश वनके 'कुस कंटक मग काँकर नाना' का तिरस्कार किया था और जिन्हें एक निर्दयी राक्षस हरण कर ले गया और वे रह गयीं—

'बिलपत अति कुररी की नाइ ।'

बस, एकदम श्रीराघवेन्द्रके मुखसे 'जानकी' नाम निकला—

कहहु तात केहि भाँति जानकी ।

वह जानकी जिन्हें स्वयंवरमें धनुष-भङ्गके कुछ ही क्षण पूर्व रघुनाथजीने अत्यन्त विकल देखा था और उनकी विशेष प्रीति देखकर करुणानिधान पुलकायमान हो गये थे ।

अस जियँ जानि जानकी देखी । प्रभु पुलके लखि प्रीति बिसेषी ॥

वह जानकी जो राघवके प्रेममें इतनी मग्न थीं कि विरहके डरसे वे अपनी बाँह नहीं हिलने देती थीं ।

निज पानि मनि महुँ देखिअति मूरति सुरूपनिधान की ।
चालति न भुजबल्ली बिलोकनि बिरह भय बस जानकी ॥

वह जानकी जिनको भयंकर वनके दोष-गुण समझाकर श्रीराघवेन्द्रने घरपर ही रहनेको कहा था ।

'लगे प्रबोधन जानकिहि प्रगटि बिपिन गुन दोष'—

लेकिन जिन्होंने कहा था—

'राखिअ अवध जो अवधि लगि रहत न जनिअहिं प्रान ।'

अगर 'जानकी' के स्थानपर 'बैदेही' शब्द होता और अर्धाली यों होती—

तात कहहु कस अहि बैदेही ।

तो इसमें वह रस और रंग न आता जो 'जानकी' शब्दके होनेसे इस अर्धालीमें है—

कहहु तात केहि भाँति जानकी ।

'जानकी' के तीन अर्थ हैं—(१) जनकसुता, (२) जगजननी और (३) 'अतिसय प्रिय करुनानिधान की ।' कहाँ कौन-सा अर्थ उपयुक्त है, वह बोलनेवालेकी मानसिक स्थिति और मनोवैज्ञानिक दशापर निर्भर है । अतएव तुलसी-जैसे अनुपम कलाकारके शब्दको समझनेके लिये उस शब्दकी भाव और अर्थ-परम्पराके साथ-साथ उसको बोलनेवालेकी स्थितिपर, उसके संदर्भपर भी ध्यान देना आवश्यक है ।

मुक्त-विचार

क्या मेरी श्वासोंका कोई हिसाब है ?
क्या मेरी क्रियाओंका कोई लेखा है ?
क्या मेरी कामनाओंका कहीं अन्त है ?
क्या मेरी चेष्टाओंकी कोई सीमा है ?
यद्यपि मैं···केवल एक क्षुद्र जीव हूँ ।
और वह·····················,
जिसकी श्वासें वायुकी अनन्त लहरियाँ हैं,
जिसकी क्रिया यह चिरन्तन सृष्टि है,
जिसकी इच्छामात्रसे अनेक सृष्टियाँ बनती-मिटती हैं ।
जिसकी चेष्टाओंसे कण-कण चेतन है,
उसे कहाँ खोजूँ ?
वह कहाँ है ??
और कहाँ नहीं है वह ???

—प्रवासी

मुँहदिखायी

(लेखक—श्रीब्रजेश भटनागर एम्० ए०)

बरात आ गयी ! मिथिलासे कुमारोंकी बरात लौटकर आ गयी। अयोध्याके शान्त वातावरणमें कोलाहल गूँजा। चेतनाकी लहर फैल गयी । नर-नारी उमड़ पड़े । हर्षका सिन्धु हिलोरें ले उठा । तोरण-पताकाओंसे मुख्य-मुख्य बाजार तथा विशिष्ट द्वार सुशोभित हो गये । वीथियाँ चन्दन-अरगजासे सिञ्चित हो गयीं । भवनोंकी सज्जा अपूर्व थी । ध्वज फहरा रहे थे । माङ्गलिक कलशोंसे गृहद्वारोंकी शोभा विकीर्ण हो रही थी । चारों ओर कलात्मक चौक पूरे गये । राजभवनका शृंगार अवर्णनीय था । ऐसा लगता था ऋद्धि-सिद्धि, सुख, ऐश्वर्य और काव्यवर्णित सगुन साकार उमंगसे भरे भव्य प्रासादमें विद्यमान हों ।

नारियाँ अट्टालिकाओंपर चढ़कर झरोखोंसे देखने लगीं । पुष्पोंके थाल भरे सुन्दरियाँ राजपथमें स्वागतको प्रस्तुत हो गयीं । जलपूरित कलश लिये नारियाँ सिंह-द्वारपर बरातकी प्रतीक्षा करने लगीं । विभिन्न वाद्योंका तुमुल मधुर स्वर राजपथको मुखरित करता हुआ आगे बढ़ा।

'चक्रवर्ती महाराज दशरथकी जय !' 'गुरु भगवान् महर्षि वसिष्ठकी जय !' अवधेशके साथ कुलगुरु वसिष्ठजी रथारूढ़ निकले । मार्गमें पुष्प बिखेरती हुई सुन्दरियाँ चलने लगीं । फिर चारों कुमार अपने चञ्चल तुरंगोंको नचाते हुए आये । चारों कुमारोंकी 'जय'का घोष उठा । नारियोंने ऊपरसे पुष्प बरसाये । प्रसूनमालाओंसे राजकुमार आकण्ठ लद गये । कलश नीचे झुके । मुद्राएँ डालकर वे आगे बढ़े । दास-दासियोंसे घिरी राजवधुओंकी शिविकाएँ आयीं । उत्सुकताकी दृष्टियाँ बिखर गयीं । वधुओंका जयकार गूँजा । प्रासादके समक्ष आकर सब अपने यानोंसे उतर पड़े । माताएँ उल्लासपूरित हृदयसे द्वारपर आकर आरती उतारने लगीं । शिविकाएँ रुक गयीं और साथ ही मचल उठीं वधुओंके सौन्दर्य-सुधाका पान करने लालायित पागल नेत्रोंकी दृष्टियाँ । वृद्धाएँ लोभसंवरण न कर सकीं । वे शिविकाओंके पट उघाड़कर बलैयाँ लेकर बलिहारी जा रही थीं । वधुएँ उतरीं । पुष्प बिखेरती हुई दासियाँ मार्ग-प्रदर्शन करने लगीं । माताओंने आरती उतारी और सब महलमें प्रविष्ट हुए ।

एक विशाल कक्षमें वधुओंके मुख-प्रदर्शनका आयोजन किया गया । माताएँ अपने कल्पतरुको साकार फलान्वित देखकर मुग्ध हो रही थीं । लाड़ली वधुओंके चन्द्रमुख देखनेके लिये वे ज्यों ही प्रस्तुत हुईं, एक उच्चस्वर उल्लसित वातावरणमें निनादित हो उठा । 'ठहरो !' आगे बढ़ते हुए चक्रवर्तीजीने कहा । रानियाँ वहीं जडवत् हो गयीं ।

'मुख-प्रदर्शन ऐसे न होगा ।'

'तो फिर ?' महारानी कौसल्याने उत्सुकतासे पूछा।

'वही देख सकेंगी जो दुलारी वधुओंपर अपनी अमूल्य अलभ्य वस्तु न्यौछावर कर सकें ।'

एक समस्या उठ खड़ी हुई । महारानी संकोचमें पड़ गयीं । 'क्या दूँगी अपनी लाड़लीको ! मुझ अकिञ्चनाके पास कुछ भी तो नहीं है ।'

कैकेयी अम्बा आगे बढ़ीं । मैथिलीका अवगुण्ठन उठाकर मस्तकपर चुम्बन अंकित करते हुए कहा—'तुम्हारे श्वशुरने कनकमहल मुझे दिया था । वही आज मैं सहर्ष तुम्हें दे रही हूँ बहू रानी ! सोल्लास जीवनका प्रवेश करो । प्रभु तुम्हें सुख-सौभाग्य दें ।' मैथिलीने चरणोंका स्पर्श किया !

देवी सुमित्राने अपनी वस्तुओंपर अन्तर्दृष्टि डाली । इस अपूर्व-रूपसुधाके समक्ष सभी फीकी लगीं । कोई भी अनुरूप न ठहरी । अकस्मात् एक अलभ्य वस्तुकी स्मृति मस्तिष्कमें कौंध गयी । प्रसन्नताकी रेखा उनके चिन्तातुर मुखपर खिंच गयी । अपने मस्तकसे मणि-माणिक्योंसे निर्मित दिव्य चूड़ामणि उतारकर उन्होंने जानकीका मुख देखा । ममताकी छाप वधूके कपोलोंपर लगाते हुए मस्तकमें चूड़ामणि पहना दी और गद्‌गद होकर बोलीं—'तुम्हारे श्वशुरने देवासुर-संग्राममें विजयी होकर सौभाग्य-चिह्नके रूपमें यह चूड़ामणि मुझे उपहारमें दी थी, वही तुम्हें देकर कृतकृत्य हो रही हूँ वैदेही !' सीता छोटी माँके चरणोंमें नत हो गयी ।

उधर स्तम्भित-सी कौसल्या अम्बा खड़ी सोच रही

थीं । 'मैं पाटमहिषी होकर भी निरुपाय हूँ । क्या दूँ अपनी लाडलीको ? सास बनकर मैं अपनी दुलारी वधूका मुख न देख सकूँगी । हाय री विडम्बना ! नरेश, कैसी बाधा खड़ी कर दी ? मेरे हर्षके सागरमें यह बाँध कैसा बाँध दिया अवधेशने ?' उन्हें प्रत्येक वस्तु तुच्छातितुच्छ लग रही थी । नेत्रोंमें आँसू झाँक उठे । कुछ क्षण स्तब्धतामें बीते ।

मैथिली प्रतीक्षामें थी । अब कौसल्या अम्बा मुख देखेंगी । उन्हें आगे बढ़ते न देखकर वह संकुचित हो गयी । वीणा-विनिन्दित स्वरमें जनकनन्दिनीने निवेदन किया—'माँ ! क्या मैं आपके दुलारसे वञ्चित रह जाऊँगी ?'

महारानी मौन थी । एक अक्षमता उनके मानसको मथ रही थी । पंखकटे पक्षीकी भाँति वे तड़प रही थीं । 'कैसे कहूँ लाडली ? सुधाका पात्र मिलनेपर भी मैं पान नहीं कर सकती । कल्पतरु पाकर अभागिन, छायाका स्पर्श नहीं कर सकती । कैसी विवशता है ?' वे विचारोंमें डूबी हुई वैसी ही खड़ी रहीं ।

'आप कुछ न दीजिये माँ ! मुझे सब कुछ मिल गया ।'

'नहीं-नहीं बहूरानी । मैं महाराजकी आज्ञाकी अवज्ञा न कर सकूँगी । मैं अपना अधिकार त्याग सकती हूँ, किंतु हास्यास्पद नहीं बनूँगी ।'

'आप यदि नहीं देखेंगी तो मैं अपना अवगुण्ठन स्वयं उठाती हूँ ।'

वह मन-ही-मन अपने रामसे प्रार्थना कर रही थी । 'अब तुम्हारे हाथ लाज है । मेरे लाला डूबती नैयाको अपनी कृपावल्लीसे तुम्हीं तो पार लगाते हो ! फिर इस समस्याको क्यों नहीं सुलझाते ? तो क्या मुझे सबके समक्ष लज्जित होना पड़ेगा ? तुम्हारी माँ होकर दूसरोंकी दयाकी पात्री बनूँगी ? तुम्हारी जननी बननेका गौरव पाकर भी सबकी दृष्टिमें उपेक्षणीया और दीना-हीना समझी जाऊँगी ? क्या सोचती होगी जानकी ?' उनकी पुतली जलावरण हो गयी ।

'माँ !' मैथिलीने पुकारा । वह वैसी ही सोचती रही ! 'मुझे माँ मत कह सीता ! यदि मैं माँ होती तो क्या अपने अधिकारसे वञ्चित होती ? तुझे प्रतीक्षाकी घड़ियाँ गिननेका अवसर देती ?' धुँधले नेत्रोंसे उन्होंने अपने चारों ओर देखा । सहसा रामको मन्द-मन्द मुसकाते देख वे मन-ही-मन बुदबुदा उठीं ! 'मेरे राम ! मेरे राघव ! आओ; जननीकी गौरव-गरिमाकी रक्षा करो ।'

'माँ अम्बे ! जानकीका स्वर सुनायी दिया !

'राघव ! मेरे राम ! मेरे लाल !' माँने करुण स्वरमें पुकारा ।

'माँ, तुम दुखी हो ? इस अवसरपर आँसू ?' राम चरणमें नत थे !

'कुछ नहीं राम !' माँने उन्हें छातीसे लगा लिया । 'अब तुम मिल गये । समस्या हल हो गयी ! गुत्थी सुलझ गयी । नाव मझधारसे पार हो गयी मेरे केवट !'

'क्या कह रही हो अम्ब ?'

'प्रसन्नताकी पराकाष्ठाने मुझे बेसुध कर दिया है । आज तुम्हारी जननी पागल हो रही है राघव !' महारानीकी दृष्टि मैथिलीपर पड़ी । वह घूँघट उठानेको उद्यत हो रही थी । 'ठहर ! मेरी लाडली एक क्षण ठहर जा । अभी करती हूँ मुँहदिखायी ! अपनी कामना-लताको निराशाके झोंकेसे मुर्झाने न दूँगी । उपहारमें ऐसी वस्तु दूँगी जो अलभ्य, अमूल्य, अपूर्व और अकल्पनीय होगी । तू निहाल हो उठेगी वैदेही !'

समस्त ममता उँडेलते हुए माँने वात्सल्यभरे स्वरमें पुकारा—'राघवेन्द्र ! मुझे अपना कर दो ।' रामने माँकी आज्ञाका पालन किया । सीताका अवगुण्ठन उठाते हुए कौसल्या अम्बाने कहा, 'तुम्हें माँका हृदय सौंप रही हूँ मैथिली ! मेरे लाडले रामसे बढ़कर अलभ्य वस्तु और क्या हो सकती है ? वही आज तुम्हें उपहारमें दे रही हूँ । मेरी थातीका जीवनभर ध्यान रखना ।' सीताके हाथमें रामका हाथ दे दिया । दोनों माँके चरणोंमें गिर पड़े । किंतु माँने दोनोंको बीचमें उठाकर ही हृदयसे लगा लिया और प्रेमविभोर हो गयीं ! उधर हर्षोल्लासके स्निग्ध वातावरणमें नारियोंका मधुर स्वर गूँज रहा था ।

सीताराम मनोहर जोरी । (श्री) दशरथ नन्दन जनक किशोरी ॥

आर्ष सिद्धान्तोंकी उदारता

(लेखक—पं० श्रीगौरीशंकरजी भट्टाचार्य)

वर्तमान युगकी असंस्कृतज्ञ शिक्षित जनताके श्रीमुखसे प्रायः यह अभियोग सुना जाता है कि 'प्राचीन भारतीय आचार्योंके सिद्धान्त और मतवाद सर्वथा अनुदार, संकीर्ण एवं एकदेशीय हैं। जिन विषयोंके प्रति उनका अनुकूल मनोभाव रहा, उनके प्रति उन्होंने श्रद्धा-प्रकाशकी पराकाष्ठा दिखायी है और जिन विषयोंके प्रति उनका प्रतिकूल मनोभाव रहा, उनके प्रति विद्वेष-प्रकाशकी भी हद कर दी है। इस प्रकार उनके अनुशासनोंकी कठोरता अथवा उनमें शिथिलताके अभावके कारण वे सर्वथा अग्राह्य ही हैं।' पर आधुनिकोंकी यह धारणा पूर्णतया निराधार है—यह बात संस्कृत-साहित्यके व्यापक और सूक्ष्म अध्ययनसे भलीभाँति ज्ञात होती है। जो असंस्कृतज्ञ जन पूर्वोक्त मतके पोषक हैं, वे अज्ञतावश ही ऐसा कहते हैं। यदि कोई संस्कृतज्ञ जन भी ऐसा कहें तो समझना पड़ेगा कि आचार्योंके सिद्धान्तोंको समझनेमें उन्होंने अल्पबुद्धिका परिचय दिया है। वर्तमान लेखमें हम पूर्वाचार्योंकी सैद्धान्तिक उदारताका सप्रमाण विवेचन करेंगे।

भारतीय आचार्योंने अहिंसाको सर्वधर्मका मूल कहा है। '**अहिंसा परमो धर्मः**'—इस आठ अक्षरके वाक्यका ज्ञान सम्भवतः भारतवर्षके किसी निरक्षर व्यक्तिको भी है। भारतमें शाकाहारियोंका संख्याधिक्य सम्भवतः इसी वाक्यके प्रभावसे है। भगवान् मनुने कहा है—

अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
एतत्सामासिकं धर्मं चातुर्वर्ण्येऽब्रवीन्मनुः॥

(१० । ६३)

अर्थात् अहिंसा, सत्य, अचौर्य, शौच और इन्द्रियसंयम—संक्षेपतः ये पाँच ही सार्ववर्णिक धर्म हैं।

इस मनूक्तिमें हम देखते हैं कि अहिंसाको सार्ववर्णिक धर्मोंमें प्राथमिकता मिली है। भगवान श्रीकृष्णने तो यहाँतक कहा है कि—

प्राणिनामवधस्तात सर्वज्यायान्मतो मम।
अनृतां वा वदेद् वाचं न तु हिंस्यात्कदाचन॥

(महाभारत, कर्णपर्व ६९ । २३)

अर्थात् 'सर्वविध प्राणियोंका वध न करना, अर्थात् उनके प्रति अहिंसक मनोभावका अवलम्बन करना ही सर्वश्रेष्ठ धर्म है। भले ही मिथ्याभाषण क्यों न करना पड़े तो भी हिंसा नहीं करनी चाहिये।' जिन श्रीकृष्णने श्रीगीतामें अर्जुनको क्षात्रधर्मका आश्रय लेकर रक्तसे धरतीको सींचनेके लिये पुनः-पुनः प्रेरणा दी थी, वे ही श्रीकृष्ण उसी अर्जुनके सम्मुख पूर्वोक्त सिद्धान्तका व्याख्यान भी कर रहे हैं। हिंसा-अहिंसाका कितना अद्भुत सामञ्जस्य है। महाभारतमें परम धार्मिक महाराज युधिष्ठिर पुनः-पुनः यह खेद प्रकट कर रहे हैं कि क्षत्रियोंके लिये इससे बढ़कर और क्या दुर्भाग्य होगा कि प्राणिवध करना ही उनका वर्णविहित धर्म है। इस प्रकार अहिंसा-वृत्ति आर्यधर्मका मूल तत्त्व है। परंतु इस अहिंसाके सम्बन्धमें भी किसी प्रकारकी भ्रान्तिकी सृष्टि न होने पाये—इस ध्येयसे भगवान् मनु कह रहे हैं—

नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन॥

'आततायीके वध करनेसे किसी भी प्रकारका दोष नहीं लगता।' इस उक्तिसे किसी भी कट्टर अहिंसासेवीकी आँखें अनायास खुल सकती हैं। वस्तुतः सापराध प्राणियोंके प्रति जो हिंसा की जाती है, वह क्रियागत दृष्टिकोणसे हिंसा होते हुए भी नीतिगत दृष्टिकोणसे हिंसा-पदवाच्य नहीं है। सच्ची अहिंसा तो उसे कहा जायगा, जो निरपराध प्राणियोंके प्रति अहैतुकी अनुकम्पाके रूपमें प्रकाशित की जाती है। अहिंसक प्राणियोंकी रक्षारूप अहिंसाकी प्रतिष्ठाके लिये भी कभी-कभी हिंसा की जाती है।

आधुनिक शिक्षितोंका प्रायः ऐसा अभियोग है कि प्राचीन भारतीय आचार्योंने मुख्यतया मुनि-ऋषि, संन्यासी, परिव्राजक आदिकी ही विशेष प्रशंसा की है। उन्होंने अन्य श्रेणीके मनुष्योंकी प्रशंसा करनेमें कार्पण्यका ही परिचय दिया है। अतः उनकी विचार-पद्धति एकदेशीय है। परंतु एक योद्धा, जिसका कर्म या धर्म केवल शोणितसे धरतीको सींचना ही है—उसकी प्रशंसा करनेमें भी वे पीछे नहीं रहे। सुनिये, शुक्रनीतिकार क्या कह रहे हैं—

द्वाविमौ पुरुषौ लोके सूर्यमण्डलभेदिनौ ।
परिव्राड् योगयुक्तश्च रणे चाभिमुखो हतः ॥
मुनिभिर्दीर्घतपसा प्राप्यते यत्पदं महत् ।
युद्धाभिमुखनिहतैः शूरैस्तत् प्रागवाप्यते ॥
(अध्याय ४)

अर्थात् इहलोकमें दो श्रेणीके पुरुष ही सूर्यमण्डलको भेदकर ऊर्ध्वलोकको चले जाते हैं—पहला योगयुक्त परिव्राजक एवं दूसरा रणाङ्गणमें निहत योद्धा । ऋषि-मुनिगण दीर्घकालीन तपस्याके फलस्वरूप जिस महान् पदकी प्राप्ति करते हैं, सम्मुख समरमें निहत शूरवीर क्षणभरमें उसी पदकी प्राप्ति अनायास कर लेते हैं ।

इस उक्तिमें दो बातें ध्यान देने योग्य हैं । एक तो ऋषि-तुल्य उच्चपदकी प्राप्ति उन्हीं योद्धाओंको होगी, जो सम्मुख समरमें निहत हुए हों । रणाङ्गणसे पलायन करते हुए योद्धाकी यदि शत्रुद्वारा हत्या की जाय, तो उसे वीर नहीं, कापुरुषोंकी गति ही प्राप्त होगी । दूसरी बात यह है कि योद्धाओंकी ऋषितुल्यता क्योंकर हो सकती है ? दीर्घकालीन ध्यान, धारणा, यम, नियम, आसन, समाधि, प्राणायाम, प्रत्याहार आदिके सेवनसे जिस उच्चपदकी प्राप्ति होती है, वह पद रणाग्निमें केवल प्राणाहुति देने मात्रसे मिल कैसे सकता है ? इस प्रश्नका संक्षिप्त उत्तर तो यही होगा कि ऋषि-मुनियोंकी समग्र तपस्याका अन्तिम लक्ष्य या फल यही होता है कि शरीरके प्रति अहंभाव और ममत्वका पूर्णतया लोप हो । जो योद्धा शरीरकी आसक्तिको त्यागकर रणाग्निमें प्राणोंकी आहुति देता है, उसकी क्षणभरमें शरीरके प्रति ममता या अहंभावका नाश हो जाता है । अतः समग्र तपस्याका सम्पूर्ण फल उसे क्षणभरमें ही प्राप्त हो जाता है । योद्धाओंके साथ ऋषि-मुनियोंकी तुलना करना और तुलनाके पश्चात् दोनोंको समान ठहराना—यह एक उदाहरण ही आर्ष दृष्टिकोणकी असीम उदारताको सिद्ध करनेके लिये पर्याप्त है । भारतवर्षकी वर्तमान परिस्थितिमें उन युवकोंका ध्यान इन उक्तियोंके प्रति आकृष्ट करना आवश्यक है, जो देशकी सुरक्षाके उद्देश्यसे अपना रुधिर बहानेके लिये कटिबद्ध हैं ।

आधुनिक शिक्षितोंका प्राचीन भारतीय आचार्योंके विरुद्ध सबसे बड़ा अभियोग यह है कि उन लोगोंने अपने अनुशासनोंद्वारा मनुष्य-मनुष्यमें भेदभाव फैलाया है—ऊँच-नीचके मनोभावको बढ़ावा दिया है । यह भी कहा जाता है कि चूँकि शास्त्रप्रणेता जातिसे ब्राह्मण ही थे; अतः वर्णानुसार कर्मविभाजनमें उन्होंने पक्षपातपूर्ण विचारपद्धतिसे ही काम लिया है । ब्राह्मणोंके लिये उत्कृष्ट कर्म विहित किये गये तथा ब्राह्मणेतर वर्णोंके लिये अपकृष्ट कर्म—विशेषतया शूद्रोंके प्रति बड़ा ही अविचार किया गया ।

इस प्रकारके सर्वविध अभियोगोंके उत्तरमें हम यही कहेंगे कि ये उक्तियाँ सर्वथा अज्ञताप्रसूत, निराधार एवं भ्रान्त हैं । वर्णविभाजनानुसार कर्म-विभाजन कर आचार्योंने कदापि ऊँच-नीचके मनोभावको बढ़ावा देनेकी चेष्टा नहीं की । उन्होंने सदैव मनुष्य-मनुष्यमें साम्य-भाव फैलानेके लिये ही अपनी लेखनीका सदुपयोग किया । भगवान् मनु कहते हैं—

ब्राह्मणस्य तपो ज्ञानं तपः क्षत्रस्य रक्षणम् ।
वैश्यस्य तु तपो वार्ता तपः शूद्रस्य सेवनम् ॥
(११ । २३५)

'ब्राह्मणका वर्णविहित कर्म ज्ञान (वेदस्वाध्यायादि) ही उसके लिये तप है, क्षत्रियका वर्णविहित कर्म प्रजारक्षण ही तप है, वैश्यका वर्णविहित कर्म वार्ता (कृषि, पशुपालन, वाणिज्य आदि) ही तप है और शूद्रका वर्णविहित कर्म द्विजशुश्रूषा ही उसके लिये तप है ।'

आधुनिक शिक्षितजन यदि इस मनूक्तिपर थोड़ा मनन-चिन्तन करें, तो उनके सर्वविध अभियोगोंका उत्तर स्वतः मिल जायगा । परंतु इन अभियोगोंके उत्तर मिलनेके पश्चात् भी एक प्रश्न बाकी ही रह जाता है कि वर्ण-विभागानुसार कर्मविभाजन करनेकी सार्थकता क्या है ? जिसकी जिस कर्ममें अभिरुचि हो, वह वही करे, तो आपत्ति क्या ? इसके द्विविध उत्तर हो सकते हैं । पहला, मानवसमाजका कर्मचक्र सुचारुरूपसे चलता रहे, उसमें कोई विकलता न आने पाये, इस उद्देश्यसे वर्णविभाजनानुसार कर्मविभाजन किया गया है । दूसरा यह हो सकता है कि आचार्योंने मानव-मानसका मनोवैज्ञानिक अध्ययन कर ऐसा अनुभव किया हो कि ब्राह्मणोंमें स्वाध्यायादिके

प्रति स्वाभाविक प्रवणता है, क्षत्रियोंमें युद्धादिके प्रति स्वाभाविक प्रवणता है, ठीक उसी प्रकार वैश्य-शूद्रादिमें स्व-स्व वर्णविहित कर्मके प्रति ही स्वाभाविक प्रवणता है। यह सिद्धान्तकी बात है कि मनुष्यकी जिस विषयके प्रति स्वाभाविक प्रवणता रहती है, उसीमें वह अधिकतर सफल हो सकता है, सम्भवतः इसीलिये वर्णविभागानुसार कर्मविभाग किया गया हो। एक बात और है—कर्ममें श्रेष्ठ-निकृष्टकी जो बात कही जाती है, उस विषयमें कहना यह है कि मूलतः सभी कर्म शुचि और निर्दोष हैं—चाहे वह कर्म वेदाध्ययन हो या मल-मूत्र साफ करनेका ही कर्म हो। न्यायका आश्रय लेकर जो भी कर्म किया जाता है, वह सर्वथा शुचि और निर्दोष ही है। इसके विपरीत अन्यायका आश्रय लेकर यदि वेदपाठादि-सदृश उत्कृष्ट कर्म भी किया जाय, तो वह सदोष और अशुचि हो जाता है।

सत्यकी प्रशंसाके लिये भारतीय आचार्योंने अपनी लेखनीसे जितनी मसी (स्याही) का उपयोग किया है उसका यदि एकत्र संग्रह किया गया होता, तो वह सम्भवतः अष्टम समुद्र बन जाता। यहाँ दो-चार उक्तियाँ ही उद्धृत की जा रही हैं। आचार्य भर्तृहरिने कहा है—**'सत्यं चेत्तपसा च किम्।'** अर्थात् यदि कोई मनुष्य सत्यकी रक्षा कर सके, तो उसे और किसी भी प्रकारकी तपस्यासे प्रयोजन है ही नहीं अर्थात् सत्यसे बढ़कर और कोई तपस्या नहीं है। इतिहास-पुराणादिमें हम देखते हैं कि ऋषि-मुनियोंके श्रीमुखसे प्रायः एक वाक्य उच्चरित हुआ है कि—**'अनृतं नोक्तपूर्वं मे स्वैरेष्वपि कदाचन।'**—अर्थात् हँसी-मजाकमें भी मैंने कदापि मिथ्याभाषण नहीं किया। यह सत्य-प्रेम या अनृत-द्वेष ही ऋषिके ऋषित्व और मुनिके मुनित्वका मूल बीज है। पितृ-सत्यके रक्षणार्थ श्रीरामचन्द्रका राज्यत्याग और वनगमन तो भारतीयोंके लिये शाश्वत प्रेरणाका एक उत्स है। 'सत्यवादी' विशेषणके साथ महाराज युधिष्ठिरका नाम इतना जुड़ गया है कि वे स्वयं सत्यवादिताके रक्तमांसमय मूर्त विग्रहके समान माने जाते हैं।

सत्य या सत्यवादिताकी एवंविध गौरवमयी परम्पराके धारक भारतीय आचार्य ही कह रहे हैं—

अर्थात् 'प्राणसंशय, विवाह एवं धर्म और अर्थकी रक्षाके लिये—यदि प्रयोजन हो—तो सत्यका त्याग कर मिथ्याभाषण भी करना चाहिये।' (महाभारत, शान्तिपर्व १० से १९) थोड़ेसे मिथ्याभाषणसे यदि अपनी या किसी दूसरेकी प्राणरक्षा हो; अथवा पुत्र-कन्याके विवाहके तथा स्वधर्म और अर्थ अर्थात् जीविकाकी रक्षाके लिये यदि कहीं किंचित् मिथ्याभाषण करना पड़े तो वह निर्दोष होता है। महाभारतमें किस अवसरपर सत्यका त्याग कर मिथ्याभाषण करना चाहिये—इसके उदाहरणमें एक छोटी-सी कथा है। किसी समय कौशिक नामके एक तपस्वी ब्राह्मण किसी निर्जन वनमें रहते थे। एक दिन डाकुओंके भयसे कुछ पथिक उसी वनमें आकर छिप गये। तदनन्तर डाकू भी उनका पीछा करते हुए आये और उन्होंने कौशिक ब्राह्मणसे पूछा कि 'वे लोग किधर गये हैं?' सत्यवादी कौशिकने जैसा देखा था, कह दिया। फलतः डाकुओंने पथिकोंका पता लगाकर उनकी हत्या कर डाली। परंतु इस हत्याके दोषका भागी कौशिकको भी होना पड़ा; क्योंकि उनके सत्यभाषणके फलस्वरूप ही पथिक बेचारे मारे गये। अतः यहाँ मिथ्याभाषण ही धर्म था।

भारतवर्षके जो नागरिक यथार्थतः देशप्रेमी हैं, जिनके जीवनका अन्तिम लक्ष्य देशका सर्वात्मक अभ्युदय है, जो अपनी मातृभूमिको प्राणाधिक प्रिय समझते हैं, वे इतना समझ लें कि भारतभूमिकी सर्वाङ्गीण उन्नति तबतक सम्भव नहीं, जबतक देशमें सर्वत्र आर्षविद्याका अधिकाधिक प्रचार-प्रसार न हो। परम्पराओंके प्रति द्वेष, घृणा या उनके त्यागकी भावना सर्वथा विघ्नजनक है। परम्पराओंके त्यागद्वारा नहीं, प्रत्युत उनकी रक्षाके द्वारा ही किसी भी देशकी सर्वतोमुखी उन्नति हो सकती है।

राम-वन-गमन

चले राम बनने वनबासी।
आज अवधके कण-कणमें है छायी घोर उदासी॥
प्राण पिताके हैं अकुलाते,
माताके न अश्रु रुक पाते,
परिजन-पुरजन शोक मनाते,
आज राम कानन हैं जाते,
बिलख रहे हैं दास महलके और बावली बन सब दासी।
चले राम बनने वनबासी॥ १॥

व्यथित सखा-गण हैं पुकारते,
राम! हमें तुम क्यों बिसारते,
तुम्हें देख हम प्राण पालते,
क्या न भाव यह राम जानते?
प्रजाजनोंका कौन रहेगा, प्रणतपाल विश्वासी।
चले राम बनने वनबासी॥ २॥

सूना भवन, महल आँगन है,
चला जा रहा जीवन-धन है,
मिट्टी-सा लगता कंचन है,
म्लान बना केसर-चन्दन है,
रामहीन वन तुल्य अवध है, जहाँ राम वह पावन काशी।
चले राम बनने वनबासी॥ ३॥

दीप महलका बुझ-बुझ जाता,
है प्रकाश अब स्नेह गँवाता,
कौन पिताको धैर्य बँधाता,
क्षण-क्षण हृदय कराह दबाता,
वचन पिताका एक बन रहा घातक और विनाशी।
चले राम बनने वनबासी॥ ४॥

गुंजित राम-रामकी वाणी,
दुःखद यह वनवास कहानी,
धीरज भूले योगी ज्ञानी,
मरण तुल्य है प्राणी-प्राणी,
कैसे सुतको भेज रहे वन, दशरथ प्रथित प्रशासी।
चले राम बनने वनबासी॥ ५॥

चूम रहे पग झुक-झुक तरुवर,
तड़प रहे सरितामें जलचर,
आगे चलते बहकर निर्झर,
चरणोंपर झरनेको झर-झर,
पथसे चुन-चुन ले जाते जन, पद-रज मुक्ति-प्रकाशी।
चले राम बनने वनबासी॥ ६॥

त्याग अवध उड़ चले विहग-दल,
छाया फैलाये बादल-दल,
राम किये निज मनको निश्चल,
चले दिखाने सत्-आत्मिक बल,
पत्नि-बन्धुने साथ दिया, जिनका यश है अविनाशी।
चले राम बनने वनबासी॥ ७॥

राम-राम ध्वनि है गुंजारित,
नभमें, पवन-प्रवाह-प्रसारित,
पथमें शिला हुई उद्धारित,
केवट-प्राण सहज निस्तारित,
चित्रकूटमें अभी खोजते, पद-रज पथिक प्रवासी।
चले राम बनने वनबासी॥ ८॥

पथमें खड़ी गाँवकी गोरी,
छूकर चरण लगाती रोरी,
सीता तुम सुकुमारी गोरी,
वनमें होती नारी-चोरी,
क्यों आयी हो तुम काननमें, राम महलके हैं अधिवासी?
चले राम बनने वनबासी॥ ९॥

यदि न राम काननमें जाते,
तपसी-योगी वेश बनाते,
तो न धर्मकी लाज बचाते,
राम-राज्य धरतीपर लाते,
रह जाती निराश कितने भक्तोंकी आँखें दर्शन-प्यासी।
चले राम बनने वनबासी॥१०॥

भाईने बन्धुत्व निभाया,
सीताने पतिव्रत-पद पाया,
तुलसिदासने गुण-गण-गाया,
वाल्मीकिमें विद्-बल आया,
यह वनवास-कहानी है, युग-युग करुण कथा-सी।
चले राम बनने वनबासी॥११॥

—विद्यालंकार श्रीजगन्नाथ मिश्र गौड़ 'कमल' वेदान्तरत्न

पढ़ो, समझो और करो

(१)

'मकरुजको नज़ात नहीं'

(ऋणीकी मुक्ति नहीं)

बात सत्तर वर्षसे कुछ ही कम समयकी है ।

मेरे पिताजी एक दफ्तरमें नौकरी करते थे । अवकाश-के बाद कटड़ा चड़तसिंह (अमृतसर) में एक दोस्तके यहाँ चले जाते थे । वह कोरा रेशम फेरनेवाला एक दूकानदार था । उसकी यह दूकान एक चौबारेमें थी, जहाँ उसके और भी कई कारीगर उसके लिये मजदूरीपर रेशम फेरते थे । रेशम फेरनेवालोंको 'नकाद' कहा जाता था और दूकानदार-को 'उस्ताकार' कहा जाता था । उस्ताकारका नाम शायद रामरत्न था ।

रामरत्नकी ऊपरकी मंजिलमें जूआ होता था । मेरे पिताजी खुद जूआ नहीं खेलते थे । वे जुआरियोंमें साहूकारा करते थे । टोटेके समय जुआरी उनसे उधार ले लेते थे । दाँव पड़ता था तो एकके बदले दो दे देते थे । अधिक भी दे देते थे । जो दाँव पड़नेपर भी नहीं देते थे, उनसे हमारे पिताजीको ले लेना आता था । वे प्रायः हर एकसे अपनी पाई-पाई अवश्य वसूल कर लेते थे । उनका नाम लाला राजाराम था । शरीर कोई अधिक बना हुआ नहीं था, पर साहस बड़ा था । खाने-पीनेके शौकीन और दिलके दरिया थे । दो-चार चपरगट्टू अपने साथ रखते थे ।

अमृतसरमें महामारी पड़ी और वे मर गये । मैं और मेरा छोटा भाई रामजस उन दिनों बम्बईमें थे ।

हमारी माँ पहले मर चुकी थी । हमारे पिताजीने दूसरी शादी नहीं की थी । हमें हमारी नानीके सुपुर्द कर दिया था । वे हमें लेकर अपने बेटेके पास बम्बई गयी हुई थीं ।

हम सब अमृतसरमें लौट आये और प्रायः स्थायी रूपसे रहने लगे ।

जून-जुलाईका महीना था । सन्-संवत् तो याद नहीं । हम दोनों भाई अभी छोटे-छोटे ही थे । नानीके पास बैठे हुए थे । किसीने दरवाजा खटखटाया । नानीने आवाज दी 'कौन है ?' देखा कड़कती धूपमें एक बहुत बूढ़ा मुसलमान लाठी टेके खड़ा ऊपरकी तरफ देखता हुआ उत्तरकी प्रतीक्षा कर रहा है । उसकी कमर झुकी हुई थी । बाल तमाम सफेद थे ।

आवाजके बदलेमें आवाज सुनकर उसने कहा—'राजारामके बेटे यहीं रहते हैं ?' मेरी नानीने कहा—'हाँ भाई ! क्या बात है ?' वह बोला—'उन्हें लेकर जरा नीचे आ जाइये ।' पहले तो मेरी नानी डरी कि कहीं कोई गुंडा-बदमाश न हो । राजारामसे बदला लेने न आया हो ।

उसने फिर कहा—बेबेजी ! घबरायें नहीं । मैं राजारामका दोस्त हूँ, दुश्मन नहीं ।

मेरी नानी हम दोनोंको लेकर नीचे चली गयी । उसने कहा—बैठ जाइये । हम तीनों थडेपर बैठ गये । उसने बांसहरीसे जितने रुपये थे, निकालकर हमारे सामने रख दिये और कहा—'बेबे ! यह रुपये तुम उठा लो । पूरे पच्चीस हैं । इन्हें इन बच्चोंके काममें ले लीजियेगा ।'

मेरी नानीने कहा—'बाबा ! यह रुपये कैसे हैं ?'

वह बोला—'कोई खैरात नहीं, कर्जा है, जो लाला राजारामका देना था ।

मैं जुएमें टोटेके समय उनसे दस-बीस-पचासतक उधार ले लेता था, जब दाँव पड़ता था दे देता था ।

इसी तरह एक बार उनसे पच्चीस रुपये लिये । मैं बड़ा उचक्का, बदमाश और खूँखार था । रोज किसी-न-किसीसे टक्कर ले लेता था । एक बार एक टक्करमें मेरे हाथों किसी-का खून हो गया । मुझे घटनास्थलपर पकड़नेकी किसीकी हिम्मत न पड़ी । मशहूर थानेदार प्रेमसिंह भी मौजूद था । मैं भाग गया । बादमें एक मित्रके धोखा देनेसे, विश्वास-घात करनेसे मैं पकड़ा गया और मुझे आजन्म कालेपानीकी सजा हुई । कालेपानीमें जाकर भी मैं गुंडागर्दीसे बाज न आया । वहाँ भी कोई-न-कोई उद्दण्डता कर ही देता । फलतः मुझे माफी एक दिनकी भी न मिली । मैं पूरे बीस साल काट-कर अभी पिछली साल ही आया हूँ ।

मैं बहुत बूढ़ा हो गया हूँ । मौतके किनारे हूँ । सोचा, राजारामका कर्जा सिरपर उठाये मरनेसे नज़ात नहीं मिलेगी । मैं मुसलमान हूँ । मेरे कुरआन-शरीफमें लिखा है

कि मकरूजको (कर्जदारको) नज़ात (मुक्ति) नहीं मिलता ।

मैंने मजदूरी करके धीरे-धीरे ये पचीस रुपये जमा किये हैं । इन्हें उठा लो और बच्चोंसे कहला दो—'बाबा ! मुनाफा माफ किया ।' मेरी नानीने रुपये उठाकर हम दोनोंसे ऐसा ही कहला दिया और बूढ़ा सलाम-दुआ करता खुशी-खुशी चला गया ।

—गुराँदित्ता खन्ना

(२)

आदर्श सहनशीलता

बंगालके प्रसिद्ध विद्वान् श्रीविश्वनाथ शास्त्रीके जीवनसे सम्बन्धित घटना है । एक बार किसी महत्त्वपूर्ण विषयपर दो पक्षोंके विद्वानोंमें शास्त्रार्थ हो रहा था । इनमें एक ओरका नेतृत्व कर रहे थे—श्रीविश्वनाथ शास्त्री ।

दोनों ओरसे अपनी-अपनी समझसे अकाट्य युक्तियाँ दी जा रही थीं । दोनों ओरके पण्डित यही समझ रहे थे कि विजय उनकी ही होगी, परंतु विश्वनाथ शास्त्रीके तर्कोंका खण्डन करना आसान काम नहीं था । आखिर उनके तर्कोंके सामने विपक्षी विद्वान् ठहर नहीं सके । सभी निरुत्तर हो गये । है तो यह दुर्बलता ही, पर होता यही है कि हारनेवाले क्रोधमें भर जाते हैं । अतः जब शास्त्रार्थमें विपक्षियोंको अपनी हार स्पष्ट दिखायी देने लगी, तब उनमेंके एक पण्डितने सूँघनेकी तम्बाकूकी अपनी डिबिया खोली और सारी तम्बाकू श्रीविश्वनाथजीके सिरपर उँड़ेल दी ।

श्रीविश्वनाथजीके स्थानपर अन्य कोई होते तो इस प्रकारके बर्तावको न सहकर लड़ बैठते । लड़ाई होने लगनेपर शास्त्रार्थकी बात छूट जाती और कौन पक्ष हारा, कौन जीता—इसके निर्णयका अवसर ही नहीं रह पाता । पर श्रीविश्वनाथजी बड़े धैर्यवान्, गम्भीर तथा सहिष्णु विद्वान् थे । उन्होंने क्रोधका उत्तर क्रोधसे नहीं दिया । वरं हँसकर तम्बाकू फेंकनेवालेसे कहा—'पण्डितजी ! अबतक तो हम प्रसङ्गवश अन्य विषयोंपर बातचीत कर रहे थे । अब हमें मूल विषयपर आना चाहिये । आपने तम्बाकू फेंककर व्यर्थ ही अपना नुकसान किया ।'

मूल विषयपर वे क्या आते । हार तो चुके थे पहले ही । मौका खोज रहे थे—लड़कर हारसे बचनेका । पर श्रीविश्वनाथजीकी सहिष्णुताने वह अवसर ही नहीं आने दिया । वे सब पानी-पानी हो गये । हार तो गये थे प्रतिभासे ही । अब उनकी सहनशीलतासे तो सर्वथा लज्जित और पराजित हो गये । सबने आदरपूर्वक विश्वनाथजीका अभिवादन किया ।

—प्रो० श्याममनोहर व्यास, एम्० एस्-सी०

(३)

मैं घूस नहीं लेता

हमारे मकानके सामने एक वृद्ध रहते थे । वे निवृत्त-जीवन बिताने आये थे । जीवनमें उपयोगी हों, ऐसे बहुत-से अनुभवके प्रसङ्ग उनसे सुननेको मिलते । उन्हींमेंसे एक प्रसङ्ग उन्हींके शब्दोंमें यहाँ उपस्थित किया जा रहा है—

विश्वयुद्धका समय था । मैं कराचीमें अपने बोहरे हिस्सेदारके साथ ठेकेका काम करता था । सरकारी कण्ट्राक्टका आठ लाख रुपयेका काम हमने आरम्भ किया था । इसमें बहुत मुनाफेकी सम्भावना नहीं थी । अवश्य ही अंग्रेज इंजिनियर कुछ रिश्वत लेकर कामको बहुत अच्छा बतला दे तो लाख-डेढ़-लाख रुपये मिलनेकी सम्भावना थी । मैंने और मेरे हिस्सेदारने सलाह करके चौदह हजार रुपये अंग्रेज इंजिनियरको देनेका निश्चय किया ।

एक दिन हम दोनों फलकी टोकरी और चौदह हजार रुपये लेकर अंग्रेज इंजिनियरके मकानपर पहुँचे । औपचारिक बातचीतके बाद 'फलकी टोकरी आपकी भेंटके लिये लाये हैं'—ऐसा हमलोगोंने कहा । उन्होंने टोकरीमेंसे सिर्फ तीन केले लेकर कहा—'बाकीके सारे फल मेरी ओरसे अपने बच्चोंको बाँट दीजियेगा ।' इसके बाद उन्होंने हमारे आनेका कारण पूछा । मैं संकोचमें पड़ गया । बगलमें बैठे हुए अपने हिस्सेदारको मैंने इशारेसे रुपये देनेकी बात समझायी । उसने चौदह हजारका बंडल टेबलपर रखकर कहा—'यह भी थोड़ी-सी आपकी भेंट है, इसे स्वीकार कीजिये ।' और इसके बादके दृश्यको मैं कभी नहीं भूल सका । गोरा इंजिनियर लाल-पीला हो गया और उसने 'रास्कल' तथा 'नॉनसेन्स' कहकर हमारी अभ्यर्थना की तथा चौदह हजारके बंडलको टेबलसे फेंक दिया; फिर तुरंत ही हमें बाहर निकल जानेका आदेश दिया ।

हमलोग अपराधी थे । घबराये हुए थे । अतएव निराशमुखसे रुपये लेकर वापस लौटे । कुछ ही दूर गये

थे कि इंजिनियरका आदमी—'आपको साहब बुला रहे हैं।' कहकर हमें वापस मकानपर ले गया।

इस समयका दृश्य पहलेकी अपेक्षा भी विशेष चढ़ा-बढ़ा था। गोरे इंजिनियरने हमसे माफी माँगी और उसका कारण यह बताया कि 'उसने हमलोगोंके साथ अनुचित बर्ताव किया था।' फिर उसने कहा—'मैं रिश्वत नहीं लेता, मुझे इतनी ही बात आपलोगोंको जनानी थी। इसकी जगह मैं बहुत ही अनुचित बोल गया और आवेशमें सज्जनताको भूल गया।'

इसके बाद हमलोगोंके साथ ही उसने चाय पिया। फिर बातचीतके दौरानमें कहा—'भाई! मैं रिश्वत नहीं लेता। मुझे सरकार दो हजार रुपये मासिक देती है। मेरे कुटुम्बके लिये यह रकम बहुत ज्यादा है। जाओ, आपलोग ईमानदारीसे सब काम करो, जरूर सफल होओगे।' इसके बाद हमलोगोंने बिदा ली।

चौदह हजार रुपयेकी बड़ी रकमको ठुकरा देनेवाले गोरे इंजिनियरने हम-जैसे अपराधियोंके साथ जिस सौजन्य और उदारताका बर्ताव किया, उसे मैं कभी नहीं भूल सकता।
(अखण्ड आनन्द)

—भगवतीप्रसाद

(४)

अमोघ ओषधि 'नारायणकवच'

तीन साल पहलेकी बात है। मेरे घुटनेमें अचानक भयानक दर्द होने लगा। मैंने साधारण रोग समझकर ग्रामीण जड़ी-बूटियोंसे प्राथमिक उपचार किया, परंतु दर्द कुछ भी कम नहीं हुआ। वरं उत्तरोत्तर बढ़ने लगा। यहाँतक कि चलने-फिरनेमें लाठीका सहारा लेनेपर भी कठिनता होने लगी। इसके बाद मैं शहरी डाक्टरोंकी शरणमें गया। बहुत-से डाक्टरोंने रोगकी परीक्षा की। किसीने कालान्तरमें कैन्सरकी सम्भावना बतायी तो किसीने हड्डीमें टी० बी०। किसीने एक-डेढ़ साल लगातार इंजेक्शन दिलानेकी सलाह दी तो किसीने पाँव कटवाने तककी राय दी। पचास-साठ इंजेक्शन भी लगातार लगाये गये। परंतु दर्द तो कम हुआ ही नहीं, नये-नये रोगोंने ताण्डव करना शुरू किया। शायद इंजेक्शनकी प्रतिक्रिया थी। कुछ भी हो, अन्ततोगत्वा मैं हताश होकर पड़ा रहने लगा।

एक दिन मेरे गुरु, जिनसे मैंने व्याकरण आदि पढ़े थे, आये और उन्होंने कहा कि "तुम अब इन सब डाक्टरी प्रपञ्चोंको छोड़कर श्रीमद्भागवत षष्ठ स्कन्धस्थ 'नारायण-कवच'का पाठ करो। भगवान्‌की कृपासे तुम्हें लाभ होगा" इस उपदेशके अनुसार मैंने 'नारायणकवच'का पाठ शुरू किया। यथाशक्ति स्नान-संध्याके बाद एक आवृत्ति पाठ मैं प्रतिदिन करने लगा। क्रमशः रोग भी क्षीण होने लगा। तबसे प्रायः छः महीने बीत गये। आज भी मेरा पाठका नियम चल रहा है और मैं पूर्ण स्वस्थ हूँ। दर्द किस स्थानमें था, इसका भी पता नहीं है। इसीसे मैं 'कल्याण'के द्वारा सभी भाइयोंसे हाथ जोड़कर प्रार्थना करता हूँ कि वे भी आवश्यक होनेपर इस सर्वभय-व्याधिनाशक 'नारायणकवच'का पाठ करें और परम दयालु परमात्मा नारायणके शरण होकर सारी आधि-व्याधिसे मुक्त हों।

—भवनाथ ढकाल

(५)

विश्वासका फल

सन् १९२०-२१ की बात है। मैं नापाड ग्रामका निवासी हूँ। नापाड ग्राम आणन्दसे थोड़ी दूरपर बसा हुआ है। उस समय नापाडसे आणन्द आने-जानेके लिये मोटर-बस या किसी दूसरी सवारीकी सुविधा न थी। अच्छी सड़क भी नहीं थी। पगडंडियोंसे अथवा कच्ची सड़कपर बैलगाड़ियोंसे आना-जाना होता था।

एक बार मैं किसी कामसे नापाड गया था। वहाँसे प्रातः लगभग ९-१० बजे आणन्द लौटते समय, मेरे ही नापाड ग्रामकी बोहरा जातिकी एक विधवा बहिन उरबाई अपने भाईके साथ बैलगाड़ीसे आणन्द आ रही थी। उनका और मेरा साथ हो गया। वे दोनों भाई-बहिन पहुँची हुई उम्रके थे और कमजोर भी।

अचानक मैंने उरबाईसे पूछा—'क्यों उरबाई! आणन्द दवा करवाने जा रही हो?' उरबाईने उत्तर दिया—'नहीं भाई! मैं दवाखाने नहीं जा रही हूँ। मैं तो अपने घरका दस्तावेज अपने इस भाईके नाम करवाने जा रही हूँ। इधर मेरा शरीर ठीक नहीं रहता। देहका क्या भरोसा? मेरे मरनेके बाद मेरे सगे-सम्बन्धी मेरे इस भाईको हैरान न करें, इसलिये पहलेसे पक्का दस्तावेज

करवा देना अच्छा है। कचहरीमें सनाख्त* के लिये मुखियाजीने साथ आनेकी बात कही थी, पर वे न आ सके। दो दिन बाद आनेका वादा किया है। किंतु ये गाड़ीवान भाई गाड़ी लेकर आ गये। इनको मना कैसे करती; इनका तो सारा दिन ही बिगड़ जाता। मैंने सोचा—सनाख्तके लिये—खुदा-सरीखे मालिक हैं,—तो कोई-न-कोई मिल ही जायँगे। आओ भाई, तुम भी इस गाड़ीमें बैठ जाओ। क्यों आणन्द ही ज़ा रहे हो न ?'

मैंने कहा—'हाँ, मुझे आणन्द ही जाना है। चलो, अच्छा साथ मिल गया।' यह कहकर मैं गाड़ीमें सवार हो गया।

उस समय श्रीभाईलाल भाई व्यास नामक एक सज्जन सब-रजिस्ट्रार थे। आणन्दमें रहनेके कारण उनसे मेरा अच्छा परिचय था। मुझे अचानक ईश्वरीय प्रेरणा हुई कि 'इस बाईकी भगवान्पर अडिग श्रद्धा है। कहीं भगवान्ने ही तो इसके कार्यमें हाथ बँटानेके लिये मुझे यहाँ नहीं भेजा है ? मैं ही इस बाईके साथ कचहरीमें जाकर सनाख्त करके दस्तावेज रजिस्टर्ड करवा दूँ तो क्या हर्ज है ?'

मनमें इस विचारके आते ही मैंने बाईसे कहा—'तुम सनाख्तकी चिन्ता न करना। सब-रजिस्ट्रारके साथ मेरा परिचय है। मैं तुम्हारे साथ चलूँगा और आशा है, भगवान्की इच्छासे तुम्हारा काम सरलतासे हो जायगा।' मेरे इस प्रस्तावको सुनते ही उरबाई और उसके भाई आनन्दमें भर गये। उनके चेहरोंपर चिन्तामुक्तिजनित उल्लासकी रेखाएँ उभर आयीं और अचानक उरबाईके मुखसे ये शब्द निकले—'वाह ! अल्लाह कितना दयालु है !'

अन्तमें बैलगाड़ी कचहरी पहुँची। दस्तावेज लिखवाकर सब-रजिस्ट्रार महोदयके सामने पेश किया गया। भगवान्की इच्छासे उस दिन दस्तावेज करवानेवाले व्यक्तियोंकी भीड़ भी अधिक न थी। इतनेमें पुकार हुई और हम तीनों सब-रजिस्ट्रारके सामने उपस्थित हुए। मैंने सनाख्त की और दस्तावेज नोट करनेका काम पूरा हो गया।

* किसी भी दस्तावेजकी रजिस्ट्री करवाते समय सब-रजिस्ट्रार दस्तावेज करने और करवानेवाले दोनोंके किसी परिचित व्यक्तिसे, जिसको सब-रजिस्ट्रार भी स्वयं पहचानते हों, सनाख्त करवा लेनेके बाद ही रजिस्ट्री करते हैं।

तदनन्तर सब-रजिस्ट्रारने मुझसे पूछा—'तुम इस बाईके साथ कहाँसे आ गये ? तुम्हें तो अपनी सिलाईके कामसे ही फुरसत नहीं मिलती।' मैंने कहा—'मैं गतकल नापाड गया था। लौटते समय मुझे रास्तेमें यह बाई मिली और इसने मुझे गाड़ीमें बैठा लिया और सब बातें कहीं। मैंने सोचा—बाईका काम पूरा करनेके बाद ही दूकान जाना उचित होगा।'

इसके पश्चात् सब-रजिस्ट्रार साहेबने वृद्धा भाई-बहिनकी कमजोरीकी ओर देखकर कहा—'लल्लूभाई ! तुमने अच्छा काम किया। अब यदि यह बाई आध-पौन घंटा यहाँ और रुक जाय तो इनके दस्तावेजकी नकल भी मैं आज ही अभी करवा दूँ, जिससे नकल लेनेके लिये इन्हें फिर न आना पड़े। खर्च भी बच जाय और काम भी आज ही निपट जाय। देखो न, दोनों कितने अशक्त हैं।'

उन दिनों अबकी तरह दस्तावेजोंकी फोटो लेनेके लिये उन्हें पूना नहीं भेजा जाता था। कचहरीके आदमी ही उनकी नकल कर देते थे। मैंने सब-रजिस्ट्रारकी बात उरबाईसे कही और सुनते ही उसे बड़ा आनन्द हुआ। उसने कहा—'मैं ठहर जाऊँगी' और वह खुदाको याद करने लगी।

आधे घंटेमें ही नकल हो गयी। दस्तावेज मिल गया। दस्तावेज लेते समय दोनों भाई-बहिन सब-रजिस्ट्रारको मूक आशीर्वाद दे रहे थे और सलाम कर रहे थे। दयालु सब-रजिस्ट्रार भी उनकी इन भावनाओंका उत्तर मन-ही-मन नमस्कार करके दे रहे हों, ऐसी उनकी सौम्य मुद्रा थी।

बाहर आनेके बाद सनाख्त करनेके बदले उरबाई मुझे दो रुपये देने लगी। मैंने कहा—'बाई ! मैं सनाख्त करनेके पैसे नहीं लेता। मनुष्यको मनुष्यका काम करना ही चाहिये। फिर, तुम्हारा यह काम तो खुदाने करवाया है।' यह सुनते दोनों भाई-बहिन मुझे अन्तरसे आशीर्वाद देने लगे। सब-रजिस्ट्रारकी दयालुता और बोहरा भाई-बहिनका भगवान्के प्रति विश्वास—ये दोनों बातें मुझे आज भी याद आ रही हैं। मेरा अनुमान है कि आधे घंटेमें दस्तावेजकी नकल होकर किसीको मिल जाय—देश-विदेशकी अदालतोंमें ऐसी घटना शायद ही कहीं हुई या होती हो।

—लल्लूभाई पटेल, नापाडवाला

(६)

महात्माकी समता

आगरासे कुछ दूरीपर जो इटावा है, वहाँसे एक महात्मा प्रतिवर्ष घूमते हुए शिमला पधारा करते हैं । इस बार भी वे काश्मीर श्रीअमरनाथ-यात्रा जानेसे पूर्व आये थे । उन्होंने बतलाया कि कुछ वर्षों पहलेकी बात है, वे घूमते-घूमते वृन्दावन जा निकले। वहाँसे कुछ ही दूर एक प्रसिद्ध महात्माकी जंगलमें एकान्त कुटिया थी। उनका यह नियम था कि वे प्रतिदिन कुछ साधुओंको भोजन करवाकर फिर स्वयं भोजन किया करते । कई वर्षोंसे यह नियम चला आ रहा था। दैववश वे एक बार कुटियासे बाहर कहीं घूमने गये थे । पीछेसे किसी धूर्तने उनके पीतलके बर्त्तन चुरा लिये। वे जब लौटे तो उन्हें इसका पता लगा । वे पुलिस-थानामें रिपोर्ट करने गये। वहाँके रपट लिखनेवाले मुंशीने पूछा—'क्या बात है ?' इन्होंने कहा—'बर्तन चोरी हो गये हैं । आप रपट लिख लें और हो सके तो पता लगा दें ।' मुंशीने कहा कि 'बिना कुछ लिये मैं रपट नहीं लिखूँगा । तुम्हारे पास ५) हों तो दे दो, नहीं तो यहाँसे भाग जाओ ।' महात्माने कहा—'भाई ! हमारे पास रुपये देनेको कहाँसे आये ?' मुंशीने उत्तर दिया कि 'आखिर तुमने बर्त्तन भी कहींसे माँगकर ही खरीदे होंगे, फिर किसीसे माँग लेना । चलो, हटो यहाँसे । मुफ्तमें मेरा समय नष्ट न करो । मेरे पास इतना अवकाश नहीं कि मैं तुम्हारी व्यर्थकी बातें सुनता रहूँ ।' बेचारे अपना-सा मुँह लेकर वापस लौट आये ।

समय व्यतीत होता गया । एक दिन वही मुंशी किसी कार्यसे जहाँ महात्माकी कुटिया थी, उस गाँवमें गया। वहाँ लोगोंसे उन महात्माकी भी चर्चा सुनी । लोगोंने बतलाया कि 'इन महात्माके नाम हर महीने, पता नहीं कहाँसे मनीआर्डर आते हैं और इनका नियम है कि ये कई साधु-महात्माओंको भोजन करवाकर फिर स्वयं खाते हैं । ये न तो गाँवमें कभी भिक्षा करते हैं और न किसीसे एक कौड़ी कभी लेते हैं ।' यह सब सुनकर मुंशीके मनमें उत्सुकता उत्पन्न हुई कि 'मैं भी ऐसे महात्माके दर्शन करता चलूँ ।' वह कुटियामें गया और उनको देखकर जरा संकोचमें पड़ गया; क्योंकि ये वही थे, जिनकी रपट लिखनेसे उसने इन्कार कर दिया था और पाँच रुपये माँगे थे । वह प्रणाम करके बैठ गया और पूछने लगा कि 'महात्माजी ! क्या आपके शिष्यगण हैं जो आपको मनीआर्डरसे रुपये भेजते हैं ? नहीं तो यह नित्य साधु-भोजन कैसे चलता है ?' महात्माने उत्तर दिया 'भाई ! ईश्वर ही सब कुछ करता है । मेरे न तो कोई शिष्य है और न मुझे कोई अन्य व्यक्ति ही मनीआर्डरसे रुपये भेजता है, न मैं मण्डलेश्वर ही हूँ, जो मुझे कहींसे किरायेके रुपये आते हों एवं न मेरा किसी मन्दिरपर ही अधिकार है कि जहाँसे चढ़त-चढ़ावा आता हो ।' फिर महात्माजीने कहा—'भाई ! तुम इतनी पूछ-ताछ क्यों कर रहे हो ? अपना कार्य करके वापस जाओ ।' मुंशीने कहा कि 'मुझे आश्चर्य हो रहा है कि आपका यह अन्नपूर्णाका काम कैसे चल रहा है । कृपा करके मेरे संशयको मिटाइये ।' उसके हठ करनेपर महात्मा कहने लगे—'भाई ! मनीआर्डर मेरे लड़केके यहाँसे आते हैं, जो आजकल सेशन जज है ।' यह सुनते ही मुंशी घबराकर बोला—'तो महाराज ! आप संन्यासी होनेके पूर्व क्या करते थे ।' महात्माने कहा—'मैं सुपरिण्टेण्डेण्ट पुलिस था । मनीआर्डरसे मेरी पेन्शनके रुपये भी आया करते हैं। इसी पूँजीसे महात्माओंकी सेवा होती है ।' यह सुनते ही मानो उसके पाँवके नीचेसे जमीन निकल गयी । वह दण्डवत् प्रणाम करके गद्गद स्वरसे बोला—'प्रभो ! मुझे क्षमा करना । मेरेसे बड़ी भूल हुई थी, जब मैंने आपकी रपट लिखनेके लिये पाँच रुपये माँगे थे । मेरे-जैसे व्यक्ति तो, जब आप पदपर थे, आपके बूट पालिश करते होंगे । परंतु आपने यह बात, जब रपट लिखाने आये थे, तब, क्यों नहीं बतलायी ?' महात्मा कहने लगे 'भाई ! मैं पुलिस-कप्तान था तब था । अब तो मैं संन्यासी हूँ, केवल प्रभुका सेवक हूँ । तुमने रपट लिखनेसे इन्कार कर दिया और मैं चुपचाप वापस आ गया ।'

भगवान्ने श्रीमद्भगवद्गीतामें संन्यासीके जैसे लक्षण बतलाये हैं, इन महात्मामें ठीक वही दिखायी देते हैं—

(१) जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः ॥
(६ । ७)

'जिसने मन-इन्द्रिय आदिके संघातरूप इस शरीरको अपने वशमें कर लिया है और जो प्रशान्त है,

जिसका अन्तःकरण सदा प्रसन्न रहता है, उस संन्यासीको भली प्रकारसे सर्वत्र परमात्मा प्राप्त है। वह सर्दी-गरमी, सुख-दुःख एवं मान-अपमानमें यानी पूजा और तिरस्कारमें भी (सम हो जाता) है।'

(२) समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः॥
(१२ । १८)

'जो शत्रु-मित्रमें और मानापमानमें, अर्थात् सत्कार और तिरस्कारमें समान रहता है, एवं शीत-उष्ण और सुख-दुःखमें भी सम भाववाला है तथा सर्वत्र आसक्तिसे रहित हो चुका है।'

(३) मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते॥
(१४ । २५)

'जो मान और अपमानमें समान तथा मित्र और शत्रु-पक्षके लिये तुल्य है एवं जो सारे आरम्भोंका त्याग करनेवाला है, वह पुरुष 'गुणातीत' कहलाता है।'

पाठकजन ! श्रीमद्भगवद्गीतामें कहे हुए इन लक्षणोंकी तुलना करके देखेंगे कि महात्मामें प्रायः ये सब गुण दिखायी देते हैं। कहाँ पुलिसकी कप्तानीका जोम और कहाँ एक मामूली मुंशीके द्वारा अपशब्दसे तिरस्कार किये जानेपर भी शान्त हृदय रहना और चुपचाप चले आना। धन्य हैं ऐसे महात्माजन !

—योगेन्द्रराज भण्डारी बी० ए०

साधनोंकी पवित्रता आवश्यक

एक दिन मैंने देखा, एक नौकर गंदे हाथोंसे प्लेट साफ कर रहा था, किंतु साफ किये प्लेट फिर गंदे हो जाते थे। उसके हाथ जो गंदे थे। × ×

हम भी आदर्शवादके आवरणमें व्यवहार करते हैं परंतु साधनोंमें आदर्शात्मकता नहीं आने देते। उच्च आदर्शोंके और पवित्र साध्योंके लिये साधनोंकी उत्तमता और पवित्रता प्राथमिक आवश्यकता है। जबतक हम साधनोंको नहीं माँज लेते, उपकरणोंको शुद्ध नहीं बना लेते, साध्यमें उत्तमता तथा पवित्रता नहीं आ सकती।

करना यह है कि हम साधन वे ही अपनावें जो स्वरूपतः शुद्ध हों, सर्वतोभावेन पवित्र हों, जिससे हमें परिणामकी शुद्धता—पवित्रताका निश्चय हो जाय। अन्यथा हम साध्यको वाणीसे कितना ही शुद्ध बतलावें, वह शुद्ध नहीं हो सकता। वाणीसे पहले हृदयका शुद्ध होना अपेक्षित है। हृदयके शुद्ध, दिव्य प्रेम-प्रवण होनेसे ही साधन शुद्ध होंगे और तभी सिद्धि भी तद्रूप ही होगी—साध्य भी परम शुद्ध ही होगा, निश्चय ही होगा।

हृदयके भावानुसार ही सारा शरीर परिचालित होता है। अतः उसको शुद्ध रखना आवश्यक है। कर्म चाहे किसी भी दिशामें किये जायँ, उनको प्रेरणा देनेवाली हृदयकी मूलभूत धारणा विशुद्ध होनी चाहिये।

जब हृदय ही कलुषित है, तब बाहरी साधन उज्ज्वल—विशुद्ध कैसे होंगे? और फिर साध्य भी कल्याणस्वरूप कैसे हो सकेगा?

—श्रीगोविन्द शास्त्री, साहित्यरत्न

श्रीहरिः

कल्याण

[भक्ति, ज्ञान, वैराग्य और सदाचार-सम्बन्धी सचित्र मासिक पत्र]

वर्ष ३८

संवत् २०२०-२०२१ वि०

सन् १९६४ ई०

की

निबन्ध, कविता

तथा

चित्र-सूची

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार] * [प्रकाशक—मोतीलाल जालान

कल्याण-कार्यालय, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

वार्षिक मूल्य रु० ७.५० (सात रुपये पचास नये पैसे) } आजीवन ग्राहक-शुल्क रु० १००)
विदेशोंके लिये रु०१०.०० [१५ शिलिंग] } प्रतिसंख्या ४५ (पैंतालीस नये पैसे)

निबन्ध-सूची

विषय — पृष्ठ-संख्या

१–अकारण निन्दा, आलोचना और घृणा मिलनेपर हम क्या करें ? (डॉ० श्रीरामचरणजी महेन्द्र एम्० ए०, पी-एच्० डी०, विद्याभूषण, दर्शनकेसरी) ··· ··· १२६०
२–अखिलरसामृत-मूर्ति भगवान् श्रीकृष्णका आविर्भाव (श्रीकृष्ण-जन्माष्टमी-महोत्सवपर गोरखपुरमें हनुमानप्रसाद पोद्दारका प्रवचन) १२२०
३–अद्भुत चमत्कारी बजरंग-बाण (डॉ० श्रीरामचरणजी महेन्द्र एम्० ए०, पी-एच्० डी०, विद्यालंकार, दर्शनकेसरी) ··· ९९८
४–अनुगीता और अनासक्ति (डॉ० श्रीकन्हैयालालजी सहल, एम्० ए०) ··· १२९३
५–अनुभवके कुछ क्षण (श्रीविश्वेश्वरनारायणजी) ··· ··· १२५७
६–अन्तरके शिवत्वको जाग्रत् और विकसित करें (श्रीराधेश्यामजी) ··· ··· ११४६
७–अपनी सभ्यताके प्रति अनादर (श्रीपरिपूर्णानन्दजी वर्मा) ··· ··· ८०५
८–अभी कुछ नहीं बिगड़ा (श्रीराजेन्द्रप्रसादजी जैन) ··· ··· १२९४
९–अर्जुनकी दुविधा (अनु०–श्रीबा० रा० बझे, बी० ए०) ··· ··· ९८५
१०–अर्थ या अनर्थ ! (एक त्यागी संतके आदेशानुसार लिखित) ··· ८५१
११–अवकाशके समयका सदुपयोग (श्रीअगरचन्दजी नाहटा) ··· ··· १२५१
१२–अवतारोंका कालक्रम (श्रीविश्वम्भरनाथजी द्विवेदी) ··· ··· ८७३
१३–आजके युगकी विशेषता—अर्थ एवं अधिकार (प्राध्यापक श्री जे० पी० पाण्डेय, एम्० एस्-सी०, बी० एड्०, एल्-एल्० बी०, विशारद) ··· ··· ११९०
१४–आज हम किधर बहके जा रहे हैं ? (प्राध्यापक श्री जे० पी० पाण्डेय, एम्० एस्-सी०, बी० एड्०, एल्-एल्० बी०) ··· ७४१
१५–आत्महत्या करनेवाले मूर्ख कष्टमय रौरव नरकके कष्ट भोगते हैं (डॉ० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०, पी-एच्० डी०, विद्याभूषण, दर्शनकेसरी) ··· ··· १०३२
१६–आत्माका निवास-स्थान हृदय-प्रदेश (श्रद्धेय स्वामीजी श्रीकृष्णानन्दजी महाराज) ··· ११००
१७–आत्मानमुपमां कृत्वा (श्रीरामकृष्ण) ··· ७३६
१८–आत्मोद्धारके सरल उपाय (श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका) ··· ११८१
१९–आदमीका बड़प्पन इस प्रकार नापा जाय ! (डॉ० श्रीरामचरणजी महेन्द्र एम्० ए०, पी-एच्० डी०, विद्याभूषण, दर्शनकेसरी) ९२०
२०–आध्यात्मिक दृष्टिकोण धारण करनेसे सुख, शान्ति और समृद्धि (डॉ० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०, पी-एच्० डी०, विद्याभूषण, दर्शनकेसरी) ··· ११९३
२१–आर्ष सिद्धान्तोंकी उदारता (पं० श्रीगौरीशंकरजी भट्टाचार्य) ··· १३८७
२२–आश्रम-धर्मका रहस्य (श्रीदयाशंकरजी पाण्डेय, 'हरीश', एम्० ए०, बी० एड्०) ९६६
२३–आसुरी संस्कृतिका प्रभाव (श्रीआचार्य सर्वे) १११३
२४–इच्छा-त्याग (दि० श्रीमगनलाल हरिभाई व्यास) ··· ··· १२२५
२५–इच्छा-त्यागमें ही परम सुख है (स्व० मगनलाल हरिभाई व्यास) ··· १३३६
२६–ईश-स्तवन (डॉ० श्रीबसन्तकुमार चट्टोपाध्याय एम्० ए०) ··· ··· १२८१
२७–उत्तरदायी कौन ? (श्रीसुन्दरलालजी बोहरा) १०५६
२८–उदारता तथा विशालताका दर्शन (साधुवेषमें एक पथिक) ··· ··· ११४४
२९–उन्नतिमें घोर बाधक 'ईर्ष्या' (श्रीअगरचन्दजी नाहटा) ··· ··· १०६५
३०–उपनिषदोंकी भावधारा (श्रीचारुचन्द्र चट्टोपाध्याय एम्० ए०) ··· ८९४
३१–ॐ क्या है ? (श्रीडाह्या भाई मोती भाई पटेल, बी० एस्-सी०, लंदन) ··· १०८२
३२–एक अँगरेज भक्त (श्रीकुबेर भाई) ··· १२५४
३३–एक महात्माका प्रसाद (संकलनकर्ता–'माधव') ··· ९५६, ११४३, १३३५
३४–कटती हुई जड़ोंकी चुनौती (श्रीरामनाथजी 'सुमन') ··· ··· १११०
३५–कबहुँक हौं यहि रहनि रहौंगो (श्रीराजेश्वरप्रसादजी चतुर्वेदी एम्० ए०, बी० एस्-सी०, पी-एच्० डी०, डी० लिट्०) ··· १२८३

३६–कम-से-कम आवश्यकता—सुख-शान्तिका सच्चा एवं अनुभूत उपाय (श्रीअगरचन्दजी नाहटा) १२८७
३७–कल्याण ('शिव') ६९४, ७५८, ८२२, ८८६, ९५०, १०१४, १०७८, ११४२, १२०६, १२७०, १३३४
३८–कामके पत्र ··· ११२२, ११६२
३९–काम-क्रोध-मद-लोभ सब नाथ नरकके पंथ (डा० श्रीएल० एन० सक्सेना) ··· ९२६
४०–(श्री) कृष्ण-जन्मस्थान, मथुरा (पं० श्रीदेवधरजी शर्मा, मन्त्री—श्रीकृष्ण-जन्म-स्थान-संघ) ··· १३२०
४१–क्या किसीने आपकी कोई हानि की है (डॉ० श्रीए० डी० हेफ्ले, अमेरिका) ··· १२५८
४२–क्या मांस-मद्य-अंडा-भक्षण-प्रचार भी लोक-कल्याण है ? (श्रीकस्तूरमलजी बाँठिया) ··· ९३१
४३–क्षयरोग और उसकी चिकित्सा (स्वर्गीय डॉ० श्रीफुन्दनलालजी अग्निहोत्री एम्० डी० (लन्दन, मेडिकल आफिसर टी० बी० सेनेटोरियम; प्रेषक—श्रीवीरेन्द्र अग्निहोत्री एम्० ए०, १६, केलाबाग, बरेली) ··· १०६२
४४–गुरुपूजनका पावन पर्व (श्रीगौरीशंकर गुप्त) ११२६
४५–गोपाष्टमी-महोत्सवपर गोरक्षा-राष्ट्रीय सप्ताहका देशव्यापी आयोजन ... १३२५
४६–गोभक्तिका चमत्कार (श्रीरामेश्वरदयालजी श्रीमाली बी० ए०, साहित्य-विशारद) ··· ८७२
४७–गौ-रहस्य (ठा० श्रीमानसिंहजी के० एस्०) ८६९
४८–घृणाके मनोवैज्ञानिक दुष्परिणाम (पं० श्रीलालजीरामजी शुक्ल, एम्० ए०, बी० टी०) ··· ··· १३५७
४९–चक्र कैसे थमे ? (श्रीहरिकृष्णदासजी गुप्त 'हरि') ... ··· ९३०
५०–चन्दन बनो (श्रीहरिकृष्णदासजी गुप्त 'हरि') ··· ··· ८०२
५१–चिन्तन (आचार्य सर्वे) ··· ७९२
५२–जगदम्बा श्रीसीताजी (श्रीहरेशचन्द्रजी अग्रवाल, एम्० ए०) ··· ८४६, ९०१
५३–जब बैंक टूटा (श्रीराजेन्द्रप्रसादजी जैन) ··· १३६८
५४–जीभपर अमृतका झरना (श्रीरामनाथजी 'सुमन') ··· ··· ११७५
५५–ज्ञानके अमोघ साधन (दि० श्रीमगनलाल हरिभाई व्यास) ··· ··· १०७९
५६–टर्कीमें बालक इस्माइलके पुनर्जन्मकी घटना (प्रोफेसर श्रीहेमेन्द्रनाथ बनर्जी, डाइरेक्टर पैरासाइकोलॉजी-विभाग) ··· १२९०
५७–टूटते हुए घर (श्रीरामनाथजी 'सुमन') ९७७
५८–तन्त्रोपचारका रहस्य (पं० श्रीलालजीरामजी शुक्ल, एम्० ए०, बी० टी०) ··· १२९५
५९–तम्बाकू या धूम्रपान (श्रीरवीन्द्रजी अग्निहोत्री एम्० ए०, बी० टी०) ··· ८०७
६०–तुम और मैं (महात्मा श्रीसीतारामदास ओंकारनाथजी महाराज) ··· १०१५
६१–तुलसीके ब्रह्म राम (डॉ० श्रीगोपीनाथजी तिवारी एम्० ए०) ··· ··· ९०७
६२–तुलसीके शब्द (डॉ० श्रीहरिहरनाथजी हुक्कू एम्० ए०, डी० लिट्०) १२२७, १३८२
६३–त्याग, संयम, साधन एवं तपके मूर्तिमान् स्वरूप संत (श्रीसेवारामजी) ··· १००२
६४–त्रिगुण-विजय (श्रीमती डॉ० स्वर्णलता अग्रवाल, एम्० ए०, पी०-एच्० डी०) १३०१
६५–दानवीर दधीचि (डा० श्रीहरिनन्दनजी पाण्डेय) ··· ··· ९७५
६६–दीपावली-पर्व (श्रीरामप्रसादजी सनाढ्य, वेदान्ताचार्य, बी० ए०, एल्० टी०) ··· ११६९
६७–दुर्भिक्षका कारण और निवारण (पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा) ··· १३४९
६८–दैनिक जीवनमें स्वर-विज्ञान (श्रीशशिप्रकाश-जी शर्मा एम्० ए०, बी० कॉम०, विशारद) ··· ८०३, १३२३
६९–धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा (आचार्य श्रीरामप्रतापजी शास्त्री) ··· ९६४
७०–नाम-साधनापर एक दृष्टि (पं० श्रीजयकान्त-जी झा) ··· ··· ८५७
७१–निंदक नियरे राखिये (डॉ० श्रीसुरेशचन्द्रजी गुप्त, एम्० ए०, पी०-एच्० डी०) ··· ९९०
७२–नित्य आदर्श युगपुरुष राम (श्रीपरमेश्वरी-शरणजी वर्मा) ··· ··· १०४९
७३–निदिध्यासन (ब्र० पूज्यपाद श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ महात्मा श्रीनथुरामजी शर्मा, अनु०—श्रीसुरेश एम्० भट) ··· ··· ७५९
७४–निर्गुण-निराकार परमात्माकी उपासना (श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका) ··· ७०८

७५–पढ़ो, समझो और करो ७५२, ८१६, ८८०, ९४४, १००९, १०७२, ११३७, १२००, १२६४, १३२९, १३९१

७६–पण्डित और मूर्ख (आचार्य 'प्रवासी' एम्० ए०) ... १०६७, १२४४

७७–परमार्थ-पत्रावली (श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके पत्र) ८२३, १०१७, १२१४

७८–परस्पर सहयोग (श्रीगोवर्धनलालजी पुरोहित, एम्० ए०, बी० एड्०) ... ११३६

७९–पाकिस्तानी षड्यन्त्र (श्रीमधुसूदनजी वाजपेयी) ९८४

८०–पुराणोंमें दिव्य उपदेश ... ११३४

८१–प्रगति या अधोगति ९९६

८२–फागुनके आम (श्रीगङ्गादत्तजी शास्त्री, साहित्यरत्न) ८६२

८३–फूल बननेके लिये (श्रीहरिकृष्णदासजी गुप्त 'हरि') १०८६

८४–ब्रह्मकी सर्वरूपता (श्रीशिवमूर्तिजी) ... १२५६

८५–ब्रह्मवेत्ता पुरुषके लक्षण (ब्र० पूज्यपाद श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ महात्मा श्रीनथुरामजी शर्मा, अनुवादक—श्रीसुरेश एम्० भट) ... ९५९

८६–ब्रह्म सत्य जगन्मिथ्या (पं० श्रीदेवदत्तजी मिश्र, काव्य-व्याकरण-सांख्य-स्मृति-तीर्थ) १०४४

८७–ब्राह्मणके लिये त्रिसंध्या परम कर्तव्य (महात्मा श्रीसीताराम ओंकारनाथजी महाराज) १२७८

८८–भक्त कवि जयदेव (श्रीराधाकृष्णजी) ... ७७१

८९–भक्त विभीषणके चरित्रका विकास (डॉ० श्रीगोपीनाथजी तिवारी एम्० ए०, पी-एच्० डी०) ११०५

९०–भगवन्नामके चमत्कार (डॉ० श्रीगोकुल-प्रसादजी त्रिपाठी एम्० ए०, पी-एच्० डी०, एल्० टी०, साहित्यरत्न) ... ११९२

९१–(श्री) भगवन्नाम-जप (नाम-जप-विभाग, कल्याण-कार्यालय, गोरखपुर) ... १३०५

९२–(श्री) भगवन्नाम-जपके लिये विनीत प्रार्थना १३२७

९३–भगवान् ही अपने हैं ... ११६८

९४–भयानक पशुवध ! (मन्त्री, भारत गोसेवक-समाज, दिल्ली) ९३६

९५–भागवतकी भूमिका (आचार्य श्रीअक्षयकुमार वन्द्योपाध्याय एम्० ए०) ... १२०७

९६–भारतीय ज्यौतिषशास्त्र और भगवान् (पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा) १०४७

९७–भारतीय राजनीति तबकी और आजकी (श्रीरामनिरीक्षणसिंहजी, एम्० ए०, काव्य-तीर्थ) १३१७

९८–भेड़ियाधसान विज्ञान-प्रवृत्ति (स्वर्गीय श्रीविश्वामित्रजी वर्मा) ९३९

९९–भोजनमें प्रसाद-बुद्धि (संकलयिता—'श्रीमाधव') १०७१

१००–मथुराजीकी यात्राका अनुभव (दि० श्री-मगनलाल हरिभाई व्यास) ... ११५८

१०१–मधुर ... ७१९, ७७०, ८३३, ८९८, ९५८, १०३०, १०८७, ११६०, १२८२, १३४१

१०२–मधुराधिपतेरखिलं मधुरम् (प्राध्यापक श्रीजगन्नाथप्रसादजी मिश्र एम्० ए०) ... ९१२

१०३–मन जीता–जग जीता (श्रीहरिकृष्णदासजी गुप्त 'हरि') १३५८

१०४–मनु और याज्ञवल्क्यकी दृष्टिमें स्त्रियोंका स्थान (आचार्य श्रीचन्द्रभालजी ओझा एम्० ए०) १२४७

१०५–मनुष्यके स्थूल-सूक्ष्म शरीर (श्रीनिरञ्जनदास-जी 'धीर') १०३५

१०६–महान् पुरुषोंकी यह विशेषता अपने स्वभावमें विकसित करें (डॉ० श्रीरामचरणजी महेन्द्र एम्० ए०, पी-एच्० डी०, साहित्यरत्न, विद्याभास्कर) ७७८

१०७–महाभारतके पात्रोंकी सत्यप्रियता (डॉ० श्री-रामसरूपजी एम्० ए०, एम्-एस्-एल्०, पी-एच्० डी०) ... ७३०

१०८–महाभारतमें श्रीकृष्ण-महिमा ... ६९५

१०९–मांस-अंडेका भोजन और चमड़ेका व्यवहार तुरंत त्याग करें ११३३

११०–माँ ! हाथ पकड़ लो (श्रीहरिश्चन्द्रजी अष्टाना 'प्रेम') ९१५

१११–माता लक्ष्मीजीके कृपापात्र बनकर आर्थिक मुसीबतोंसे यों बचिये (डॉ० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०, पी-एच्० डी०, विद्याभूषण, दर्शनकेसरी) ... ७३८

११२–मानव-जीवनकी सफलता (श्रद्धेय श्रीजय-दयालजी गोयन्दका) ... १३७७

११३–मानवताके बिखरे मोती (संकलनकर्ता—श्रीश्रीराम माधव चिंगले, एम्० ए०) ... १०५३

११४—मुँह-दिखायी (श्रीब्रह्मेश भटनागर एम्० ए०) ··· १३८५
११५—मुक्त-विचार (प्रवासी) ··· १३८४
११६—मुक्ति जो बन्धन बने उस मुक्तिको ले क्या करूँगा ? (श्रीरामनाथजी 'सुमन') ··· ८३९
११७—मुनेशके पुनर्जन्मकी घटनाका विवरण (प्रोफसर श्रीहेमेन्द्रनाथ बनर्जी) ··· १३८०
११८—मोक्षका स्वरूप और उसके लिये कर्तव्य (श्रद्धेय स्वामीजी श्रीचिदानन्दजी महाराज) ७१४
११९—यदि सुख चाहते हो तो (अनन्तश्रीविभूषित ज्योतिष्पीठाधीश्वर जगद्गुरु शंकराचार्य श्रीस्वामी कृष्णबोधाश्रमजी महाराजका प्रसाद) ९५१
१२०—यन्त्र-शक्तिके अलौकिक चमत्कार (श्रीअरुण-कुमारजी शर्मा) ··· ९९४
१२१—यान्त्रिक कसाईखाने ! (श्रीरवीन्द्रजी अग्नि-होत्री एम्० ए०) ··· ११२९
१२२—युगधर्म (श्रीश्रीप्रकाशजी दुबे एम्० ए०) ८६०
१२३—(श्री)राधाके तत्त्व-स्वरूप-लीलाका पुण्यस्मरण (श्रीराधा-जन्माष्टमी-महोत्सव (सं० २०२१) पर हनुमानप्रसाद पोद्दारके गोरखपुरमें दो प्रवचन) ··· ··· १२३२
१२४—(श्री) राम-कर-कंज (मानसतत्त्वान्वेषी पं० श्रीरामकुमारदासजी रामायणी) ··· ७६७
१२५—रामचरितमानसकी अन्तःकथाएँ (डॉ० श्रीवागीशदत्तजी पाण्डेय एम्० ए०, पी-एच्० डी०) ··· ··· ११७८
१२६—(श्री) रामचरितमानसमें श्रीसतीकी अनन्त महिमा (मानसकेसरी श्रीकृपाशंकरजी रामायणी) ··· ··· १०२६
१२७—'राम तें अधिक राम कर दासा'(पं० श्रीसुनहरी-लालजी शर्मा) ··· ··· ७९८
१२८—राष्ट्र-लक्ष्मी (डॉ० श्रीरवीन्द्रजी अग्निहोत्री एम्० ए०, बी० टी०, पी-एच्० डी०) ··· १३०८
१२९—रासपञ्चाध्यायीमें दिव्य प्रेम (कविराज पं० श्रीहरिवक्षजी जोशी, काव्य-सांख्य-स्मृति-तीर्थ) ··· १०२१, १०८९, ११५२
१३०—लोभ रावण और शान्ति सीता (आचार्य श्रीतुलसीजी) ··· ··· १२८०
१३१—लोभ ही दरिद्रता है, इसको दूर कीजिये (स्वामीजी श्रीकृष्णानन्दजी महाराज) ··· १०५५
१३२—वट-सावित्री अमावस्या (श्रीगौरीशंकरजी गुप्त) ··· ··· ९१९
१३३—वर्तमान दुःखोंके नाशका उपाय और सच्चा विकास ··· ··· ११२७
१३४—वातावरणका भी विचित्र प्रभाव होता है (डॉ० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०, पी-एच्० डी०, विद्याभूषण, दर्शनकेसरी) ··· १३११
१३५—वामन और विष्णु (डॉ० श्रीवासुदेवशरणजी अग्रवाल एम्० ए०, पी-एच्० डी०) ··· ११४८
१३६—वायुके झोंकेमें दीपक (डॉ० श्रीवि० ए० शर्णे, बी० एस्-सी०, पी-एच्० डी०) ··· ८६७
१३७—विद्वान् संत-महात्माओंको दान (श्रीरामनिरीक्षणसिंहजी एम्०ए०, काव्यतीर्थ) ११८८
१३८—विषयासक्ति और भगवत्प्रेममें भेद (स्वामीजी श्रीरामसुखदासजी महाराजके प्रवचनसे) ··· १३७९
१३९—वे सब हमें छोड़ जाते हैं, पर यह हमको नहीं छोड़ता ! (डॉ० श्रीरामचरणजी महेन्द्र एम्० ए०, पी-एच्० डी०, विद्याभूषण, दर्शनकेसरी, साहित्यरत्न) ··· १०९७
१४०—वैशाखके दो महान् दिवस (श्रीगौरीशंकर-जी गुप्त) ··· ··· ८७७
१४१—(श्री) शंकराचार्यका आचार-सिद्धान्त (डॉ० श्रीराममूर्तिजी शर्मा, एम्० ए०, पी-एच्० डी०, शास्त्री, साहित्यरत्न) ··· ७९०
१४२—शांकर-वेदान्तमें मुक्तिका स्वरूप (डॉ० श्री-राममूर्तिजी शर्मा, एम्० ए०, पी-एच्० डी०, शास्त्री, साहित्यरत्न) ··· ··· ९६१
१४३—शाश्वत आनन्द और वह कैसे उपलब्ध हो ! (श्रीराधेश्यामजी रस्तोगी) ··· ७८५
१४४—शिक्षामें धर्मनिरपेक्षता या धर्मविमुखता ! (प्राध्यापक श्री जे० पी० पाण्डेय एम्० एस्-सी०, बी० एड०,एल्-एल्० बी०, विशारद) ९८६
१४५—शिव–ज्योतिपुञ्ज एवं आदितत्त्व(डॉ०श्रीनरेन्द्र-कुमारजी सेठी पी-एच्० डी०, एम्० बी० ए०, एम्० ए०, आदि) ··· ७३७
१४६—शोकके क्षणोंमें (श्रीविलियम ए० क्लफ, अमेरिका) ··· ··· १००५
१४७—शैव-उद्गीथ (डॉ० श्रीवासुदेवशरणजी अग्रवाल, एम्० ए०) ··· ··· १०८५
१४८—श्रद्धा और निष्काम भावका रहस्य (श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका) ··· ८८७

१४९–श्रम-निवारण, शान्ति (दि० श्रीमगनलाल हरिभाई व्यास) ··· ··· १२७५
१५०–संक्रामक रोग तथा हवन-यज्ञ (स्व० डॉ० श्रीफुन्दनलालजी अग्निहोत्री, एम्० डी०, लंदन, अनु०—श्रीवीरेन्द्रजी अग्निहोत्री एम्० ए०) ··· ७४८
१५१–संक्षिप्त वेद-परिचय (एक धर्मशास्त्र-प्रेमी) ८०९
१५२–संस्कार और संस्कृति (श्रीअगरचंदजी नाहटा) ··· ··· १३५५
१५३–(श्री)सत्यनारायणव्रत-कथा और उसका महत्त्व (याज्ञिकभूषण पं०श्रीराधाचरणजी शर्मा एम्० ए०, साहित्यरत्न) ··· १३४५
१५४–(श्री) सत्यनारायणव्रत-माहात्म्य-कथा (पं० श्रीकिशोरीदासजी वाजपेयी) ··· ९२५
१५५–सत्संग ही स्वधर्म है (पूज्य स्वा० शरणानन्दजी महाराजके प्रवचनके आधारपर; प्रेषक-- श्री'माधव') ··· ··· ७०६
१५६–सद्ग्रन्थोंका स्वाध्याय सत्सङ्ग है (श्री-अगरचन्दजी नाहटा) ··· ९७३
१५७–सबसे भगवद्बुद्धिपूर्वक समान और निष्काम प्रेम करनेसे भगवत्प्राप्ति (श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका) ··· ९५२
१५८–समताका महत्त्व (श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका) ··· ··· १२९८
१५९–समय बीतने दीजिये, आपके दुःख स्वयं दूर होंगे (डॉ० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०, पी-एच्० डी०, विद्याभूषण, मानस-शास्त्री, दर्शनकेसरी) ··· ··· ८३५
१६०–सहानुभूति (श्रीअनन्तविहारीजी 'मृदुल') १३५९
१६१–साधनोंकी पवित्रता आवश्यक (श्रीगोविन्द शास्त्री, साहित्यरत्न) ··· १३९६
१६२–सारा समय परमोपयोगी बनानेका साधन (श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका) ··· ७६१
१६३–सीधा रूपान्तर (श्रीमाताजी श्रीअरविन्द-आश्रम, पाण्डिचेरी) ··· ··· ७४४
१६४–सोइ पावन सोइ सुभग सरीरा (पं० श्रीसुनहरीलालजी शर्मा) ··· १३७२
१६५–स्नेहकी शक्ति सर्वश्रेष्ठ है (श्रीराधेश्यामजी) १२५३
१६६–स्वाध्याय (डाक्टर श्रीनरेन्द्रकुमार सेठी, एम्० ए०, पी-एच्० डी०, साहित्यरत्न) १३७५
१६७–हममें परिवर्तन क्यों नहीं होता ? (श्रीकृष्णदत्त-जी भट्ट) ··· ··· ९७१
१६८–हमारा लक्ष्य और साधन (ज्योतिर्विद् श्रीविश्वनाथजी मेहरोत्रा) ··· ११८५
१६९–हमारा 'ब्राह्मण'-साहित्य (पं० श्रीगंगा-प्रसादजी पाण्डेय, एम्० ए०) ··· १३४२
१७०–हमारी मुक्तिनाथ-यात्रा (श्रद्धेय श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी) ··· ··· ७२३, ७८२, ८२९
१७१–हमारी राष्ट्र-व्यवस्थाका एक आदर्श रूप (श्रीगंगाप्रसादजी पाण्डेय एम्० ए०) ··· ८००
१७२–हमारे जीवनका मानदण्ड—सदाचार (स्वामीजी श्रीकेशवपुरीजी) ··· १३१५
१७३–हार नहीं मानता (श्रीराधेश्यामजी) ··· १३६६
१७४–हिंदू-सनातन धर्म (श्रीएल्० एन० मूर्ति) १११५
१७५–हे मानव ! तू अपनी महिमा पहचान (पूज्य स्वामीजी श्रीशरणानन्दजी महाराजके प्रवचनसे; संकलयिता—'माधव') ··· १२७१

कहानी

१–अर्चावतार (श्री'चक्र') ··· १३०२
२–आनन्द-मार्ग (श्री'चक्र') ··· ७२६
३–कर्मफल (श्रीविजयजी 'निर्बोध') ··· १२५०
४–चिकना घड़ा (श्रीमती बलवीर 'वीर') ··· ९९१
५–त्याग (श्रीकृष्णगोपालजी माथुर) ··· ११७२
६–दैहिक साधन (श्री'चक्र') ··· १०५९
७–पञ्चम पुरुषार्थ (श्री'चक्र') ··· १२२९
८–पुनर्जन्म (श्री'चक्र') ··· ८४२
९–भाग्य-भोग (श्री'चक्र') ··· ९८१
१०–'मैं'की शोध (श्री'चक्र') ··· ९२७
११–मैं श्राद्ध करूँगा (श्री'चक्र') ··· ७९४
१२–लक्ष्यवेध (श्री'चक्र') ··· ११९७
१३–संगठन (श्री 'चक्र') ··· ··· १३६१
१४–साधन-सिद्धि (श्री'चक्र') ··· १११९

कविता

१–अतिथि-सेवक कपोतका बलिदान ··· ८८५

२–'अन्य-विलक्षण' ··· ··· १२२६
३–अमूल्य मानव-शरीर क्यों खोता है ! ··· ७९३
४–अर्जुनका विशुद्ध आचरण और उर्वशीका शापरूप वरदान ··· ··· ७५७
५–आजका असुर मानव ··· ··· १११४
६–उद्धवके प्रति (साहित्याचार्य पाण्डेय पं० श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्री 'राम') ··· ७५१
७–एक उपालम्भ (प्रो० गोपालजी 'स्वर्णकिरण') ७५०
८–ऐश्वर्य और माधुर्य (स्वामी श्रीजयरामदेवजी) १३७६
९–किसीके कुछ कहनेपर क्रोध आना अपने ही भीतरके मलका उभरकर बाहर निकलना है (डॉ श्रीरामदयालजी भार्गव) ··· ८२८
१०–कुल पवित्र करनेवाले पत्नी-पुत्र ··· १११२
११–(श्री) कृष्ण केवल प्रेम-रूप ··· १२०४
१२–कौन है ! (गुलशन नवीन) ··· ११०९
१३–गोपीकी पुकार (पाण्डेय पं० श्रीरामनारायण-दत्तजी शास्त्री 'राम' साहित्याचार्य) ··· १३७५
१४–गोमाताके अङ्ग-प्रत्यङ्गमें देवताओंका निवास ९४९
१५–जगत्‌के जीवन, धन, अधिकार प्रत्यक्ष क्षणभंगुर और दुःखद हैं ··· ··· १३४८
१६–जय श्रीकृष्ण हरे ! (विद्यालङ्कार श्रीजगन्नाथ-जी मिश्र गौड़ 'कमल' वेदान्तरत्न) ··· ९९३
१७–जीवन सफल करो ··· ··· ९००
१८–दिव्य विमान-विराजित भगवान्‌का ध्यान ··· १०७७
१९–दीनकी प्रार्थना ··· ··· ७९७
२०–देवर्षि नारद ··· ··· १२६९
२१–द्वन्द्वातीत जडभरत ··· ··· ११४१
२२–नमस्कार ··· ··· १२०५
२३–निष्काम कर्म जीवन है (विद्यावाचस्पति डॉ० श्रीहरिशंकरजी शर्मा, डी० लिट्०) ··· १२९२
२४–नेति-नेति (श्रीकाशीनाथजी बलवंत माचवे) ८२०
२५–पञ्चतत्त्व (विद्यालंकार श्रीजगन्नाथजी मिश्र गौड़ 'कमल', वेदान्तरत्न) ··· ७९१
२६–प्रभुका स्वयं अपना दान ··· ··· ८९३
२७–प्रभु-कृपा और प्रभुका मङ्गल कृपा-विधान ··· ७६६
२८–प्रभुसे प्रार्थना ··· ··· १३२६
२९–प्रियतम प्रभुकी सहज कृपा ··· १३००
३०–बवंडर—सूखे तिनके (प्रो० श्रीगोपालजी 'स्वर्णकिरण') ··· ··· ८३२
३१–भक्तवत्सल भगवान्‌के द्वारा अश्वोंकी परिचर्या ··· ··· ८२१
३२–भगवान्‌का हृदयमें नित्यनिवास ··· ९९७
३३–भगवान् चन्द्रमौलिसे प्रार्थना ··· १०१३
३४–मत्स्यावतार (साहित्याचार्य पाण्डेय पं० श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्री 'राम') ··· ८७६
३५–मानवकी पशुता-प्रेतता-पिशाचता ····छठें अंकके आवरणका चौथा पृष्ठ
३६–मानवकी मानवता ···· छठें अंकका चौथा आवरण-पृष्ठ
३७–मानवजीवनका अनुपम लक्ष्य ··· १३४०
३८–मृत्यु बनकर तुम्हीं आते हो ··· १००८
३९–मेरी चाह ··· ··· १०४६
४०–मेरे प्रभुका स्नेह ··· ··· १०९६
४१–मैं गोपी गोपीनाथकी (पाण्डेय पं० श्री-रामनारायणदत्तजी शास्त्री 'राम' साहित्याचार्य) १००४
४२–रस-समुद्रका प्रवाह ··· १२१९
४३–राम-वन-गमन (विद्यालंकार श्रीजगन्नाथ मिश्र गौड़ 'कमल' वेदान्तरत्न) ··· १३९०
४४–विचार-बावनी (श्रीकन्हैयालालजी दूगड़) १०४०
४५–विरक्त भक्त श्रीशुकदेव ··· ··· १३३३
४६–श्याम-श्यामाका उदार निर्जन निकुञ्ज ··· १२६८
४७–संत-समागम (श्रीमाधवशरणजी एम्० ए०, एल्-एल्० बी०) ··· ··· ८१५
४८–संयोगकी अपेक्षा वियोगमें निर्बाध असीम सुख ··· ··· ७२२
४९–'सत्'में सुस्थित रहो ··· ··· ८४५
५०–सबमें भगवान् देखिये ··· ··· १०७६
५१–सुरभि ! सदा अभिनन्दन तेरा (डॉ० श्री-हरिशंकरजी शर्मा डी० लिट्०) ··· ११५७
५२–हम कहाँ जा रहे हैं !······५ वें अंकका चौथा आवरण-पृष्ठ

संकलित कविता

१–बसो मोरे नैननमें नन्दलाल (श्रीश्री 'मीरा') ८७५
२–रघुबरकी बाल-छवि (श्री'गीतावली'से) ··· ६९३

चित्र-सूची

रंगीन चित्र

१—अतिथिसेवक कपोतके बलिदानसे व्याधका जीवन-परिवर्तन	८८५
२—अर्जुनका विशुद्ध आचरण और उर्वशीका शापरूप वरदान	७५७
३—गोमाताके अङ्गोंमें देवताओंका निवास ...	९४९
४—दिव्य विमान-विराजित भगवान्‌की ध्यानमूर्ति	१०७७
५—द्वन्द्वातीत जडभरत	११४१
६—नमस्कार	१२०५
७—भक्तवत्सल भगवान्‌के द्वारा अश्वोंकी परिचर्या	८२१
८—भगवान् चन्द्रमौलि ...	१०१३
९—भजनमय देवर्षि नारद	१२६९
१०—रघुबरकी बाल-छबि	६९३
११—विरक्त भक्त श्रीशुकदेव	१३३३

रेखा चित्र

१—उमा-महेश्वरका वात्सल्य	२रे अंकका मुखपृष्ठ
२—गोप्रेमी गोपाल	९ वें अंकका मुखपृष्ठ
३—ध्यानयोग	१० वें अंकका मुखपृष्ठ
४—नागफण-नचैया	८ वें अंकका मुखपृष्ठ
५—भगवान् श्रीराम	३ रे अंकका मुखपृष्ठ
६—मुरलीकी मस्ती	६ ठें अंकका मुखपृष्ठ
७—रामनाम-कीर्तनमत्त महावीर	५वें अंकका मुखपृष्ठ
८—वीणापाणि मा सरस्वती	११वें अंकका मुखपृष्ठ
९—वीणापाणि सरस्वती देवी	४थे अंकका मुखपृष्ठ
१०—वंशीका वैभव	१२वें अंकका मुखपृष्ठ
११—सावधान प्रहरी (लक्ष्मण)	७वें अंकका मुखपृष्ठ

बहुत दिनोंसे अप्राप्य पुस्तकका नया संस्करण

श्रीमद्भगवद्गीता—गुटका, मूल, पदच्छेद, अन्वय और साधारण भाषाटीकासहित

यह पुस्तक गीताप्रेसकी डिमाईसाइजकी प्रसिद्ध १.२५ वाली गीताका ही २२×३० बत्तीस पेजी साइजमें गुटका संस्करण है। इसमें वे सभी चीजें हैं, जो १.२५ वालीमें हैं। साइज तथा टाइप छोटे होनेके कारण मूल्य अजिल्दका ५० नये पैसे तथा सजिल्दका ७५ नये पैसे हैं। डाकखर्च ९०नये पैसे।

सं० २०११ तक इसके नौ संस्करण छप चुके थे। यह दसवाँ है, जो अनेक कठिनाइयोंके कारण अबतक नहीं निकल पाया था।

एक सूचना

परलोकगत स्वामीजी श्रीपारसनाथजीद्वारा उनके गृहस्थाश्रमके समयमें 'कल्याण' के लिये लिखी हुई तथा उसमें बहुत समय पहले छपी हुई कुछ कहानियोंका एक संग्रह **'थानेदारीसे इस्तीफा'** के नामसे गीताप्रेसके द्वारा उनकी इच्छाके अनुसार प्रकाशित किया गया था। कहानियाँ बहुत रोचक एवं उपदेशप्रद हैं, अतः जनताने उस पुस्तकको बहुत पसंद किया। परंतु एक सम्प्रदायके कुछ व्यक्तियोंने उसकी एक कहानीपर आपत्ति की। गीताप्रेस सभी सम्प्रदायोंका सम्मान करता है, अतः उस कहानीमें किसी तरहकी साम्प्रदायिक आपत्तिकी बात हमारी समझके अनुसार न समझते हुए भी वह कहानी निकाल दी गयी और लेखककी 'कल्याण'में प्रकाशित एक अन्य कहानी उस स्थानपर दे दी गयी। इस परिवर्तनसे उस सम्प्रदायके लोगोंने सभा करके बहुत संतोष प्रकट किया। पता नहीं किस कारणसे कुछ दिनोंके बाद उत्तरप्रदेश सरकारने उस पुस्तकको जब्त कर लिया। गीताप्रेसके अनेक शुभचिन्तकोंने राय दी कि सरकारकी इस आज्ञाको रद्द करानेके लिये न्यायालयका आश्रय लिया जाय; परंतु एक पुस्तकके लिये यह सब खटपट करना उचित न समझकर गीताप्रेसने तत्काल उत्तरप्रदेशकी अपनी सभी दूकानों एवं स्टेशन-स्टालोंपर उस पुस्तककी बिक्री बंद कर दी। परंतु गीताप्रेसकी दिल्ली, पटना एवं कलकत्ता—दूकानोंपर उस पुस्तककी संशोधित प्रतियाँ अभीतक प्राप्त हैं। प्रेमी ग्राहकोंकी माँगको पूरी करनेके लिये यदि उत्तरप्रदेशके बाहरके अन्य प्रदेशोंके पुस्तक-विक्रेतागण उचित समझें तो दिल्ली, पटना एवं कलकत्तासे जिसे जहाँसे सुभीता हो उस पुस्तकको मँगवा सकते हैं। यह तो स्पष्ट ही है कि उस पुस्तकका नया संस्करण गीताप्रेसके द्वारा अब छापनेकी कोई सम्भावना नहीं है।

व्यवस्थापक—**गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)**

श्रीगीता-जयन्ती-महोत्सव

भगवान् श्रीकृष्णने भगवद्गीतामें अर्जुनसे कहा है—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् । स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥ (१८ । ४६)

'जिस परमात्मासे समस्त चराचर प्राणि-जगत्‌की उत्पत्ति हुई है तथा जो परमात्मा सारे जगत्‌में व्याप्त है, उस परमात्माकी अपने कर्मके द्वारा पूजा करके मनुष्य सिद्धिको—जीवनकी सफलताको प्राप्त करता है ।'

आजका मानव इस भगवत्पूजाको भूलकर भोग-पूजामें प्रवृत्त है, इसीसे वह निरन्तर भोगचिन्तनमें लगा हुआ क्रमशः भोगासक्ति, काम, क्रोध, (लोभ,) मोह, स्मृतिनाश, बुद्धिनाशको प्राप्त होता हुआ अपना सर्वनाश कर रहा है । भौतिक विज्ञानकी इतनी उन्नति होनेपर भी मनुष्य आज भयभीत, संत्रस्त और दुखी है । मानवको इस दयनीय दशासे यदि मुक्ति मिल सकती है, यदि वह समस्त जगत्‌के हितके कार्यमें लगकर अपना हितसाधन कर सकता है तो इसका परम साधन है—भगवान्‌के श्रीमुखसे निकली हुई भगवद्गीता-सुधाका यथार्थरूपमें प्रचार-प्रसार । यह गीता अर्जुनको भगवान्‌ने जिस दिन सुनायी थी, उसी दिनको 'गीता-जयन्ती'के नामसे मनाया जा रहा है ।

इस वर्ष श्रीगीता-जयन्तीका वह महापर्व मार्गशीर्ष शुक्ल ११ मंगलवार, तारीख १५ दिसम्बर सन १९६४ को है । इस पर्वपर जनतामें गीताप्रचारके साथ ही श्रीगीताके अध्ययन—गीताकी शिक्षाको जीवनमें उतारनेकी स्थायी योजना बननी चाहिये । आजके किंकर्तव्यविमूढ़ मोहग्रस्त मानवके लिये इसकी बड़ी आवश्यकता है । इस पर्वके उपलक्ष्यमें श्रीगीतामाता तथा गीतावक्ता भगवान् श्रीकृष्णका शुभाशीर्वाद और उनसे दिव्य शक्ति प्राप्त करनेके लिये नीचे लिखे कार्य यथासाध्य और यथासम्भव देशभरमें सभी छोटे-बड़े स्थानोंमें अवश्य करने चाहिये—

(१) गीता-ग्रन्थका पूजन ।

(२) गीताके महान् वक्ता भगवान् श्रीकृष्ण तथा गीताको महाभारतमें ग्रथित करनेवाले भगवान् व्यासका पूजन ।

(३) गीताका यथासाध्य व्यक्तिगत और सामूहिक पारायण ।

(४) गीता-तत्त्वको समझने-समझानेके लिये, गीता-प्रचारके लिये, समस्त विश्वको दिव्य ज्ञानचक्षु देकर सबको निष्कामभावसे कर्तव्यपरायण बनानेकी महान् शिक्षाके परम पुण्यदिवसका स्मृति-महोत्सव मनानेके लिये सभाएँ, प्रवचन, व्याख्यान आदिका आयोजन, भगवन्नाम-संकीर्तन आदि ।

(५) महाविद्यालयों और विद्यालयोंमें गीतापाठ, गीतापर व्याख्यान, गीता-परीक्षामें उत्तीर्ण छात्र-छात्राओंको पुरस्कार-वितरण ।

(६) प्रत्येक मन्दिर, देवस्थान, धर्मस्थानमें गीताकथा तथा अपने-अपने इष्ट भगवान्‌का विशेषरूपसे पूजन ।

(७) जहाँ किसी प्रकारकी अड़चन न हो, वहाँ श्रीगीताजीकी शोभायात्रा ।

(८) सम्मान्य लेखक और कवि महोदय, गीतासम्बन्धी लेखों और सुन्दर कविताओंके द्वारा गीता-प्रचार करें ।

गीता-दैनन्दिनी सन् १९६५ ई० का तीसरा संस्करण

मू० ६२ नये पैसे, पूरे कपड़ेकी जिल्द ७५ न० पै०, डाकखर्च ७५ न० पै० अलग । एक लाख पचीस हजार प्रतियोंके दो संस्करण अति शीघ्र बिक गये । इसलिये प्रेमी ग्राहकोंके विशेष आग्रहके कारण पैंतीस हजार प्रतियोंका यह तीसरा संस्करण छापा गया, जिसके भी शीघ्र बिक जानेकी आशा है ।

☛ **दैनन्दिनीके विक्रेताओंको विशेष रियायत मिलती है, अतः यहाँ आर्डर देनेके पहले अपने यहाँके पुस्तक-विक्रेताओंसे प्राप्त करनेका प्रयत्न करनेकी कृपा करें । इससे आपका समय तथा पैसे बच सकते हैं ।**

व्यवस्थापक—**गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)**

रजि० सं० एल्० १७५

सम्मान्य ग्राहकों और पाठकोंको सूचना तथा प्रार्थना

१–इस अङ्कसे भगवत्कृपासे 'कल्याण'का ३८ वाँ वर्ष पूरा हो गया है। अब उन्तालीसवें वर्ष-का प्रथम अङ्क श्री'भगवन्नाम-महिमा और प्रार्थना-अङ्क' नामक विशेषाङ्क होगा। इसमें बड़े-बड़े संतों, आचार्यों, भक्तों तथा विद्वानोंके भगवन्नाम तथा प्रार्थनाके विषयमें बड़े ही महत्त्वपूर्ण लेख रहेंगे। नाम तथा प्रार्थना-सम्बन्धी अत्यन्त रोचक एवं उत्साहवर्धक घटनाएँ रहेंगी तथा बहुतसे सुन्दर चित्र रहेंगे।

२–कागजोंके तथा अन्यान्य सामग्रियोंके दाम तथा कर्मचारियोंका वेतन विशेष बढ़ जानेपर भी 'कल्याण'का वार्षिक मूल्य ७.५० ही रक्खा गया है। आप वार्षिक मूल्य मनीआर्डरसे भेजकर तुरंत ग्राहक बन जाइये। इस अङ्ककी माँग विशेष होनेकी सम्भावना है। रुपये भेजते समय पुराने ग्राहक मनीआर्डर-कूपनमें अपनी ग्राहक-संख्या अवश्य लिखें। नाम, ग्राम या मुहल्ला, डाकघर, जिला, प्रदेश आदि साफ अक्षरोंमें लिखनेकी कृपा करें। नये ग्राहक हों तो कूपनमें 'नया ग्राहक' अवश्य लिखें।

३–'ग्राहक-संख्या' न लिखनेसे आपका नाम नये ग्राहकोंमें लिखा जा सकता है। इससे विशेषाङ्क नये नंबरोंसे और पुराने नंबरोंसे वी० पी० द्वारा दुबारा जा सकता है। यह भी सम्भव है कि आप उधरसे रुपये कुछ देरसे भेजें और पहले ही यहाँसे आपके नाम वी० पी० चली जाय। दोनों ही स्थितियोंमें आप कृपापूर्वक वी० पी० वापस न लौटाकर नये ग्राहक बना दें और उनका नाम-पता साफ-साफ लिखनेकी कृपा करें। ऐसा करके आप अपने 'कल्याण'कार्यालयको व्यर्थकी हानिसे बचायेंगे।

४–सभी ग्राहक पाठक महानुभावोंसे तथा ग्राहिका देवियोंसे निवेदन है कि वे प्रयत्न करके 'कल्याण'के दो-दो नये ग्राहक बनाकर उनके रुपये मनीआर्डरद्वारा शीघ्र भिजवानेकी कृपा करें। इससे उनके 'कल्याण'के प्रचार-प्रसारमें बड़ी सहायता मिलेगी और वे एक महान् पुण्यके भागी होंगे।

५–जिन पुराने ग्राहकोंको किसी कारणवश ग्राहक न रहना हो, वे कृपापूर्वक एक कार्ड लिखकर सूचना दे दें, जिससे व्यर्थ ही 'कल्याण'-कार्यालयको हानि न सहनी पड़े।

६–किसी अनिवार्य कारणवश 'कल्याण' बंद हो जाय तो विशेषाङ्क और उसके बादके जितने अङ्क पहुँच जायँ, उन्हींमें पूरे वर्षका मूल्य समाप्त हुआ समझ लेना चाहिये; क्योंकि अकेले विशेषाङ्क-का मूल्य ही रु० ७.५० (सात रुपये पचास नये पैसे) है।

७–गीताप्रेसका पुस्तक-विभाग तथा 'कल्याण-कल्पतरु' (अंग्रेजी-) का विभाग 'कल्याण'-विभागसे पृथक् है। इसलिये 'कल्याण'के मूल्यके साथ पुस्तकोंके लिये तथा 'कल्याण-कल्पतरु'के लिये रुपये न भेजें; किंतु चेक या ड्राफ्ट सभी गीताप्रेसके नामसे भेजना चाहिये। गोरखपुरके बाहरके चेकोंमें १रु० बैंक-चार्ज जोड़कर भेजना चाहिये। पुस्तकोंके आर्डर 'व्यवस्थापक—गीताप्रेस'के नामसे तथा 'कल्याण-कल्पतरु'के रुपये 'व्यवस्थापक—'कल्याण-कल्पतरु'के नामसे भेजें।

८–इस वर्ष भी सजिल्द अङ्क देनेमें बड़ी कठिनता है और बहुत देरसे दिये जानेकी सम्भावना है। यों सजिल्दका मूल्य रु० ८.७५ (आठ रुपये पचहत्तर नये पैसे) है।

९–आजीवन ग्राहक-शुल्क १००रु० है। सजिल्दका १२५रु०, विदेशका अजिल्दका १२५रु० या दस पौंड और सजिल्दका १५०रु० या बारह पौंड। चेक या ड्राफ्ट 'मैनेजर, गीताप्रेस'के नामसे भेजना चाहिये।

व्यवस्थापक—'कल्याण', पो० गीताप्रेस (गोरखपुर) उ० प्र०